कामायनी-सौन्दर्य

लेखक

फतहसिंह एम. ए., बी. टी., डी. लिट.

अध्यापक एवं अध्यक्ष, संस्कृत तथा हिन्दी विभाग,

हर्बर्ट कालेज, कोटा।

प्रकाशक :
वीरेन्द्रपाल
संस्कृति-सदन,
६६ धानमंडी, कोटा (राजस्थान)

प्रथमबार १०००
अगस्त १९५८
मूल्य २)

मुद्रक
श्री उमेद प्रेस,
कोटा (राजस्थान)

समर्पण

प्रिय अशोक जी,

तुम्हारे स्नेह सलिल से सिक्त
सुमन का सौरभ इसको मान,
समर्पण कर यह रजकण आज,
क्या न मैं दूँ निज कृति को मान।

दो शब्द

पिछले दस वर्षों मे 'कामायनी' को पढ़ने पढ़ाने का अवसर मुझे प्राय. मिलता रहा है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से और शैवागम के अनुशीलन से 'कामायनी' का काव्य मुझे अधिक सुस्पष्ट और सुन्दर प्रतीत हुआ। १९४३ मे आचार्य केशवप्रसादजी (अध्यक्ष हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय) के आदेश से मैंने 'कामायनी का वैदिक आधार' शीर्षक लेख लिखा था। उसको देखकर मेरे विद्वान् गुरुओं तथा मित्रों का बराबर आग्रह रहा कि मैं 'कामायनी' पर एक ग्रन्थ लिखूँ। जब से १९४५ में मुझे एम० ए० के विद्यार्थियों को 'कामायनी' पढ़ाने का अवसर मिला तब से मेरे विद्यार्थियों का भी यही अनुरोध होने लगा। और लोगों का आग्रह टालने मे तो आलस्य सहायक हो सकता है, परन्तु अपने छात्रों का अनुरोध टालना किसी भी अध्यापक के वश की बात नहीं। अतः इस ग्रन्थ के प्रकाशन में मैं उनका सब से अधिक आभारी हूँ।

प्रसाद की 'कामायनी' शुद्ध भारतीय परम्परा की वस्तु है। अतः उसका अध्ययन पाश्चात्य दृष्टिकोण से करना भूल है। साथ ही, जहाँ पाश्चात्य तथा भारतीय साहित्यशास्त्र का, वैज्ञानिक दृष्टि से, तुलनात्मक अध्ययन करना परमावश्यक है, वहाँ पाश्चात्य शास्त्र को, बिना सोचे समझे, श्रेष्ठ मान लेना और उसी कसौटी पर किसी भारतीय काव्य को परखना मेरी समझ में ठीक नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि कुछ तो पाश्चात्य विद्वानों का अन्धानुकरण करने के कारण तथा कुछ हमारे मध्ययुगीय साहित्यिकों की विवेकहीन रूढ़िवादिता के कारण भारतीय साहित्यशास्त्र के विषय में आज कई भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र के स्वरूप को स्थिर

करने अथवा उसके किसी ग्रन्थ की आलोचना करने के लिये इन भ्रमों का निराकरण करना आवश्यक है। अतएव मैंने इस पुस्तक में 'कवि और काव्य' तथा 'भारतीय महाकाव्य' के अन्तर्गत भारतीय साहित्यशास्त्र के प्रमाणानुकूल स्वरूप को स्थिर करते हुये कुछ लिखा है। वस्तुतः यह अंश एक प्रकार से हमारे अप्रकाशित 'सौन्दर्यशास्त्र' के कुछ अध्यायों का संक्षिप्त रूप है।

कामायनी का कथानक वैदिक साहित्य से लिया गया है; परन्तु प्रसादजी ने इस सम्बन्ध में जितना कामायनी की भूमिका में लिखा है वह पर्याप्त नहीं है; वह तो केवल संकेतमात्र है। साथ ही कामायनी के मर्म और महत्व को समझने के लिये, उसके इस आधार को समझना अनिवार्य है। इसीलिये इस पुस्तक में अन्तिम दो अध्यायों में कामायनी के वैदिक आधार दिखलाने का प्रयत्न किया गया है, इसके साथ साथ ही इन अध्यायों में कथावस्तु के विश्लेषण, उसके विकास, चरित्र-चित्रण तथा कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रभृति विषयों पर भी प्रकाश पड़ गया है।

यद्यपि यह पुस्तक छात्रों के अनुरोध का परिणाम है, परन्तु यह परीक्षा को ध्यान में रखकर नहीं लिखी गई है। 'कामायनी' पर कई पुस्तकें निकल चुकी हैं; उनकी बातों को फिर दुहराने में कोई लाभ न था। मैंने इसमें वही और उतनी ही बातें दी हैं, जिनको तथा जितनी को मैं मौलिक और कामायनी के अध्ययन के लिये आवश्यक समझता था। परीक्षार्थियों और शोधकार्य करने वालों की सुविधा के लिये विषय-सूची के अतिरिक्त एक समस्या-सूची भी दे दी गई है, जिसकी सहायता से कामायनी के विद्यार्थी, विभिन्न प्रश्नों के समझने में इस पुस्तक का उपयोग कर सकते हैं।

इस पुस्तक में कागज की कंजूसी बहुत की गई है; यह एक अखरने वाली बात है। न केवल नन्हा टाइप काम में लाकर पृष्ठ-

संख्या कम की गई है, प्रत्युत लिखने में भी बहुत संयम एवं सन्तोष से काम लिया गया है और इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि कम से कम पृष्ठों में अधिक से अधिक विषय दिया जा सके। ऐसा करने में हमें बहुतसी ऐसी बातें छोड़ देनी पड़ी है या संक्षेप में कहनी पड़ी है जो साधारण विद्यार्थी के लिये उपयोगी होतीं। अस्तु, यदि साहित्य में शोधकर्ताओं के लिये इस पुस्तक में कुछ भी मौलिक तथा उपयोगी मिल सका तो लेखक अपने को धन्य मानेगा।

इस पुस्तक में प्रूफ संशोधन आदि में मेरे कई छात्रों ने बहुत परिश्रम किया है, मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। श्री उमेद प्रेस कोटा के अधिकारियों को भी मैं हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ, जिन्होंने बड़ी सावधानी से पुस्तक को मुद्रित किया है। पुस्तक में कुछ छापे की अशुद्धियाँ फिर भी रह गई हैं, पाठकों को जो असुविधा हो, इसके लिये वे कृपया क्षमा करें।

श्रावणी, २००२ विक्रमी,
कोटा } फतहसिंह

विषय-सूची

कवि और काव्य

कामायनी का काव्यत्व

देवासुर-संग्राम (वैदिक आधार)

मनुचरित (वैदिक आधार सहित)

कविर्यः पुत्र स ईमाचिकेत
यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत ॥ (ऋ० वे० १, १६४, १६)

यह 'पिता पिता' आत्मा का वही शुद्ध, बुद्ध और चिन् स्वरूप है, जिसमें उक्त सारा द्वंद्व, द्वैत अथवा अनेकत्व विलीन हो जाता है— न वहाँ शक्ति (वाक्) रहती है, न उसका वह पुत्र (कवि); वे न जाने कहाँ समा जाते हैं और न मालूम कहाँ से वह उत्पन्न हो जाता है:—

अवः-परेण पर एनावरेण पदा वत्स बिभ्रतीगौरुदस्थात्
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क स्वित् सूते नहियूथे अन्तः ।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पिता कवि वही अद्वैत तथा अमूर्त आत्मा अथवा ब्रह्म है, जिसका उल्लेख प्रारम्भ में उद्धृत वेदमन्त्रों तथा श्रीमद्भगवद्गीता के 'कविं पुराणम्' आदि में मिलता है इसी कवि का मूर्तरूप दूसरा 'कवि' है जो 'वाक्' के साथ व्यावहारिक जगत् में द्वैत सत्ता के रूप में रहता है। पहला अव्यक्त है, तो दूसरा व्यक्त; दूसरा पहले का संप्रसरण' मात्र है। अत: पहले 'कवि' की व्युत्पत्ति 'कु' धातु से मानी जाती है, और दूसरे की 'कु' की सम्प्रसरण' कव् धातु से*। दोनों कवियों के स्वरूपों मे जिस प्रकार भिन्नता है, उसी प्रकार दोनों की धातुओं के अर्थों में भी—'कु' का प्रयोग 'शब्द' के लिये होता† है, जिसका अर्थ इस प्रसंग में श्रोत्रग्राह्य स्वन या ध्वनि न होकर शब्द-ब्रह्म अथवा शब्दस्फोट आदि की कल्पना में उपलब्ध 'मूल अभिव्यक्ति' है; 'कव्' का प्रयोग 'वर्ण' अर्थ में होता है, जिससे रंग, रूप, वर्णन आदि की मूर्त अभिव्यक्ति होती है‡। पहला दूसरे से पृथक नहीं है; परन्तु वह मूल तथा अमूर्त है, जब कि दूसरा उसका

---

* देखिये उणा० ४, १३८।

† पा धा० पा० १, ६८६; २, ३३; ६, १०८।

‡ पा० धा० पा० १, ४०६, देखिये आप्टे सं० डि०।

मूर्त 'संग्रसरेण'। पहला कवि श्रद्वैत तथा निष्कल है, जब कि दूसरा द्वैत, वाक् (शक्ति) से संयुक्त। व्यावहारिक जगत् में दूसरे का अस्तित्व ध्रुव सत्य है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से पहला ही एक मात्र सत है।

(२) रस क्या है ?

यह आत्मा अथवा कवि ही 'रस' है; यही सब का आनन्द है; यही सब का प्राण है; बिना इसके भला कौन रह सकता है:—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति॥
(तै० उ० २०७)

इस 'रस' से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, उसका कुछ अनुमान कराने के लिये तैत्तिरीय उपनिषद ने निम्नलिखित प्रयत्न किया है:—

बुद्धि तथा वित्त = एक मानुष आनन्द।
१०० मा० आ० = एक मनुष्य गन्धर्वों का आनन्द।
१०० म० गं० आ० = एक पितरों का आनन्द।
१०० पितरों का० = १ आजानजा देवताओं का आनन्द।
१०० आ० दे० आ० = १ कर्म देवों का आनन्द।
१०० क० दे० आ० = १ देवों का आनन्द।
१०० दे० आ० = १ इन्द्र का आनन्द।
१०० इ० आ० = १ बृहस्पति का आनन्द।
१०० बृ० आ० = १ प्रजापति का आनन्द।
१०० प्र० आ० = १ ब्रह्म का आनन्द।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि ब्रह्मानन्द ही वास्तविक 'रस' है। ब्रह्म तो आनन्दस्वरूप है; इसीलिये अथर्ववेद में उसे अकाम, अमृत,

स्वयभू तथा 'रस से तृप्त' यक्ष कहा गया है, जिसको जान लेने से फिर मृत्यु का भय नहीं रहता* । वहाँ द्वैत भाव जाता रहता है और केवल एकत्व की अनुभूति होने से मोह, शोक आदि का प्रपञ्च शान्त हो जाता है† और आनन्द मात्र रह जाता है। इस रस-स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये भटकने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह यक्ष तो हमारी "अष्टचक्रा, नवद्वारा, देवपुरी अयोध्या" (शरीर) में ही ज्योतिर्मण्डित हिरण्ययकोश अथवा 'अपराजिता हिरण्ययी पुरी' में विराजमान् रहता ‡ है।—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानाँ पूरयोध्या ।
तस्याँ हिरण्यय. कोशः ज्योतिषावृतः ।
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते ।
तस्मिन् यद् यक्ष्मा मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः
प्रभ्राजमानाँ हरिणीं यशसा संपरिवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ।

यही यक्ष (ब्रह्म) हमारे भावों, विचारों आदि का स्रोत है क्योंकि इसी में हमारे शरीर का हृदय-तत्व तथा मूर्धा-तत्व¶ अनुस्यूत है और यही उसको (हृदय और मूर्धा को) अपने प्रदेश से सर्वत्र प्रेरित करता है। अपने भीतर स्थित कस्तूरी की सुगन्धि को जिस प्रकार मृग बाहर के पदार्थों में ढूँढ़ता फिरता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने ही अन्तस्थ 'रस' की उपलब्धि के लिये वाह्य विषयों को टटोलता फिरता है।

---

* अथ० वे० १०, ८, ४३-४४।
† य० वे० ४०, ७-८।
‡ अ० वे० १०, २, ३१-३३।
¶ मूर्धानमस्य ससीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोधि शीर्षतः ॥
(अ० वे० १०, २,२६)

मनुष्य की उन्मत्त खोज में उसे कभी कभी कुछ सुख मिल जाता है, परन्तु वह अज्ञान के कारण समझ लेता है कि मुझे यह रसकण अमुक विषय-भोग से प्राप्त हुआ है, जब कि वस्तुतः वह कण उसी 'रस-सिन्धु' ब्रह्म से ही टपक पड़ता है। परन्तु इन बिन्दुओं से प्यास बुझती नहीं, बढ़ती जाती है और प्राणी अन्धा होकर 'मृगतृष्णा' के पीछे भटकता फिरता है। यह एक विचित्र विडम्बना है कि सारे विश्व में वही आनन्द-ब्रह्म व्यास है फिर भी हमें उसका एक घूंट भी नही मिल पाता—

जीवन बन में उजियाली है।
यह किरनो की कोमल धारा, बहती ले अनुराग तुम्हारा
फिर भी प्यासा हृदय हमारा, व्यथा घूमती मतवाली है॥

× × ×

एक घूँट का प्यासा जीवन निरख रहा सब को भर लोचन।
कौन छिपाये है उसका धन—कहाँ सजल वह हरिआली है॥
('प्रसाद' के 'एक घूँट' से)

(३) काव्य

हमारी इस विकराल अतृप्ति का कारण यह है कि हमारे स्थूल-भौतिक जगत में, वह रस-स्वरूप ब्रह्म शुद्ध तथा आत्यन्तिक रूप में नहीं रह सकता; अपितु जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यहाँ वह धन तथा ऋण, सरस तथा अ-रस, सुख तथा दुःख दोनों ही पक्षों में मिलता है। हमारे व्यष्टि तथा समष्टि के जीवन में दोनों तत्व विद्यमान हैं, चाहे हम उन्हें ब्रह्म-माया या पुरुष-प्रकृति कहें अथवा शक्तिमान्—शक्ति या कवि-वाक् कहें; यह बात निर्विवाद है कि यहाँ व्यावहारिक जगत में इस जोड़े में से दूसरा तत्त्व ही प्रधान रहता है और "स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः" का वेद-वाक्य चरितार्थ करता है। अतः शरीरधारियों की जो भी अभिव्यक्ति होगी, वह साधारणतया शक्ति-तत्व या 'वाक्'

रूप में ही होगी। वाक्-रूप अभिव्यक्ति को 'वाक्य' कहा जायगा और इसमें—केवल शुद्ध वाक्य में—'रस' नहीं होगा। परन्तु, शक्ति तथा शक्तिमान् अथवा कवि तथा वाक् का अविनाभाव सम्बन्ध होने से कोई भी अभिव्यक्ति कोरी 'वाक्य' रूप नहीं हो सकती, उसके भीतर प्रच्छन्न रूप में 'कवि' तो रहेगा ही। अतः 'वाक्य' यदि अपने में 'कवि' का गुप्त से प्रकट, अनिरुक्त से निरुक्त कर सके तो वही 'कवि' की अभिव्यक्ति या 'काव्य' कहा जा सकता है, क्योंकि कवि स्वयं बिना वाक् के तो मूर्त या व्यक्त हो ही नहीं सकता। 'कवि' को व्यक्त करने का अभिप्राय है रस के उत्स को खोल देना; अतः 'वाक्य' में जितनी पुट रस की आती जायेगी, उतना ही वह 'काव्य' कहलाने का अधिकारी होता जायेगा। उसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'वाक्य' जितना ही अधिक 'काव्य' रूप होगा अपने में 'कवि' को प्रत्यक्ष करेगा, उतना ही वह 'रसात्मक' होता जायेगा। इसीलिये साहित्य दर्पणकार की परम्परा में रसात्मक 'वाक्य को ही 'काव्य' माना गया है।

'काव्य के इस स्वरूप के अन्तर्गत सभी प्रकार की रसात्मक अभिव्यक्तियाँ आजाती हैं। वास्तु, मूर्ति तथा चित्र जैसी स्थूल कलाओं से लेकर संगीत तथा कविता जैसी सभी कलायें रसात्मक अभिव्यक्तियाँ होने से 'काव्य' हैं। यही कारण है कि प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ श्री रायकृष्णदासजी ने साहित्यदर्पण तथा रस गंगाधर की काव्य-परिभाषाओं को कला-मात्र के लिये उपयुक्त पाया। उनका कहना है कि—काव्य की जो परिभाषा अपने यहाँ है, उसे यदि व्यापक रूप में लगाइये, तो वह काव्य की परिभाषा नहीं रह जाती, चित्र, मूर्ति, कविता, संगीत आदि कलामात्र की परिभाषा बनाने के लिये, एक—देशीय रूप देकर काव्य की परिभाषा प्रस्तुत की गई है। अर्थात् काव्य की परिभाषा की पूर्ण व्याप्ति तभी होती है, जब हम 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं के स्थान पर 'कृतिरसात्मिकाकला' कहें या "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"

के बदले '<u>रमणीयार्थप्रतिपादिका कृतिः कला</u>' । वस्तुतः हमने 'काव्य' तथा 'वाक्य' का जो रूप ऊपर निर्धारित किया है, उसको ध्यान में रखने पर, उक्त दोनों परिभाषाओं में बिना कोई शाब्दिक हेर फेर किये ही 'रसात्मक' अथवा 'रमणीयार्थप्रतिपादक' वाक्य के अन्तर्गत सभी कलाओं को लिया जा सकता है । मेरा अपना अनुमान तो यह है कि उक्त दोनों परिभाषायें सम्भवतः उस काल से चली आ रही थीं, जिस समय 'काव्य' तथा 'वाक्य' अपने मूल अर्थ में प्रयुक्त होते थे; और साहित्यदर्पणकार तथा रस-गंगाधर ने केवल उनका पुनरुद्धार करके कविता में लागू किया। जैसा इन ग्रन्थों में 'कविता' के लिये किया गया, वैसा ही सम्भवतः अन्य कलाओं के लिये तत्तद्सम्बन्धी ग्रन्थों में भी किया जाता होगा। इसका सब से अच्छा प्रमाण 'विष्णुधर्मोत्तरम्' नामक ग्रन्थ है, जहाँ एक से अधिक कलाओं में, कविता के समान ही 'रसात्मकता' का उल्लेख किया गया है; यहाँ पर विभिन्न कलाओं से सम्बन्ध रखने वाले आवश्यक उद्धरणों को 'विष्णुधर्मोत्तरम्' में से दिया जा रहा है:—

(१) नाट्य — शृङ्गार-हास्य-करुणा-वीर रौद्र-भयानकाः ।
वीभित्सादुभुत-शान्ताख्या नव नाट्य-रसाः स्मृताः

(२) गान — नव रसाः । तत्र हास्य-शृङ्गारयोर्मध्यम-पञ्चमौ । वीररौद्राद्भुतेषु षड्जपंचमौ । करुणे निषादगान्धारौ । वीभत्स-भयानकयोर्धैवतम् शान्ते मध्यमम् । तथा लयाः । हास्य-शृङ्गारयोर्मध्यमा । वीभत्सभयानकयोर्विलम्बितम् । वीररौद्राद्भुतेषुद्रुत ।

(३) नृत्त — रसेन भावेन समन्वितं च तालनुगं काव्यरसानुगं च
गीतानुगं नृत्त-मुशन्तिधन्य, सुखप्रदं धर्मविवर्धनन्च

(४) चित्र — शृङ्गार-हास्य-करुणा-वीर-रौद्र-भयानकः
वीभत्साद्भुतशान्ताख्या नव चित्र रसा स्मृताः ।

(१) मूर्ति—यथा चित्र तथैवोक्त खातपूर्वं नराधिप ।
सुवर्णरूप्यताम्रादि तच्च लोहेषुकारयेत् ।

उपर्युक्त अवतरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परंपरा के अनुसार, नाट्य आदि कलाओं में भी रस का वही स्थान था, जो कविता में। इन कलाओं को 'रसात्मक वाक्य' कहना उतना ही उपयुक्त है, जितना 'कविता' अत इन सभी अभिव्यक्तियों को काव्य—रसरूप कवि (आत्मा) की अभिव्यक्ति से युक्त 'वाक्य'—कहना अनुचित नहीं है।

(४) काव्य-रस

अब प्रश्न होता है कि ऊपर 'रसो वै स' कहकर जिस रस का उल्लेख किया गया है, क्या उनमें तथा काव्य रस में कोई अन्तर नहीं। वास्तव में इस प्रश्न का उत्तर काव्य के उक्त स्वरूप म ही निहित है। काव्य तो स्वभावत अभिव्यक्ति है, जब कि वह रस-स्वरूप ब्रह्म (आत्मा) यथार्थत अव्यक्त एव कूटस्थ है, काव्य चक्षु, श्रोत्र मन आदि से भोग्य है, जब कि वह इन सब से परे है और उसके विषय में कहा गया है कि—

यतो वाचि निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति' ।
(तै० उ० २, ९)

शक्तिमान् की अभिव्यक्ति शक्ति द्वारा होती है, आत्मा की अभिव्यक्ति शरीर द्वारा होती है, 'कवि' 'वाक्य' द्वारा ही व्यक्त हो सकता है, क्योंकि अभिव्यक्ति मात्र स्थूल-जगत् की वस्तु है। अतः काव्य से वाक्यत्व, शरीरत्व अथवा स्थूलत्व का पूर्णाभाव कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसके जाते ही व्यावहारिक जगत् का द्वैतभाव ही चला

जायेगा। अतः वाक्याश्रित काव्य का रस शुद्ध ब्रह्मानन्द 'रस' नहीं हो सकता। इसी से काव्य-रस को ब्रह्मानन्द न कहकर ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है।

ब्रह्मानन्द से काव्य रस भिन्न होते हुए भी तत्वतः एक ही है, क्योंकि काव्यरस यथार्थतः अव्यक्त 'रस' का ही व्यक्त रूप है। अतः इसके वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये अव्यक्त की व्यक्तीकरण-प्रणाली समझना परमावश्यक है।

अव्यक्त जिस स्थूल-यन्त्र द्वारा व्यक्त होता है, उसकी रचना में ही सारा रहस्य छिपा हुआ है। इस यन्त्र को हम व्यष्टि रूप में शरीर कहते हैं। इसका स्थूलतम रूप तो 'अन्नमय कोश' है, जिसमें पिण्डात्मक तथा रसात्मक पदार्थ हैं। इस कोश के कणकण में भिदा हुआ 'प्राणमय कोश' है, जिसमें वायव्य एवं वैद्युत तत्व हैं। 'प्राणमय' के अणु अणु में 'मनोमय कोश' व्याप्त है, जो हमारी इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों को संचालित करता है तथा उनको नानारूप प्रदान करता है। 'मनोमय' के मूल में 'विज्ञानमय-कोश' है, जहाँ मनोमय की सारी अनेकता तथा भिन्नता एकत्व में परिणत हो जाती है – मनोमय की सारी नानात्वमयी अनुभूतियाँ एकमात्र अनुभूति का रूप धारण कर लेती है। 'विज्ञानमय' का सूक्ष्मतम रूप तथा स्रोत 'आनन्दमय' कोश है, जिसमें पूर्ण, अद्वैत, आनन्द-स्वरूप ब्रह्म है। यही यथार्थ 'रस' है। यहाँ पर 'अहंता' तक नहीं रहती; अतः अभिव्यक्ति की बात ही कैसे हो सकती है। वह तो सर्वथा अव्यक्त 'रस' है, व्यक्तीकरण के साथ ही 'अहंकार' प्रारम्भ हो जाता है, जो पूर्ण अद्वैत नहीं तो 'अन्यदिव'* तो अवश्य है।

व्यक्तीकरण का प्रारम्भ 'विज्ञानमय' कोश में होता है। इस कोश की अभिव्यक्ति सूक्ष्मतम है, जो 'मनोमय' तथा 'प्राणमय' में उत्तरोत्तर

* देखिये बृ० उ० ४, ३, ३१।

स्थूल होती हुई अन्त में अन्नमयकोश में स्थूलतम होकर इन्द्रियों का विषय बन जाती है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के अन्तर्गत 'प्रिय' (सुन्दर) में परिणत होकर श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा आस्वाद्य हो जाती है। अन्नमय तथा प्राणमय कोशों को 'स्थूल शरीर' भी कहते हैं और मनोमय को 'सूक्ष्म-शरीर' तथा विज्ञानमय को 'कारण शरीर'। इन्हीं तीनों शरीरों द्वारा वह अव्यक्त रस व्यक्त होता है, यही तीन 'स्तोम' हैं, जिनके द्वारा वह परिवृद्ध होता हुआ बतलाया गया है:—

य स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिर्यो मध्यमेभिरुत नूतनेभि ।
(ऋ० वे० ३, ३२, १३)

इस अभिव्यक्ति का कारण है 'अव्यक्त' की शक्ति, जिसको वाक्, माया आदि नामों से पुकारा जाता है और जिसके प्रादुर्भूत होते ही ब्रह्म-माया, परमात्मा-जीवात्मा अथवा कवि-वाक् का 'द्वैत' चल पड़ता है, इसके फलस्वरूप 'स्वयभू' यज्ञ (आत्मा) का उल्लेख हो चुका है, वह शरीर-त्रय के उपाधि भेद से कवि, मनीषी तथा परिभू रूप धारण करता हुआ विभिन्न कोशों में यथोचित अर्थों (विषयों) की स्थापना करता है:—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (य० वे० ४०, ८)

(५) एकत्व—अनेकत्व—अद्वैत

कवि-वागात्मक द्वैत के इस स्पष्टीकरण में, एक ध्यान देने की बात यह है कि कवि (आत्मा) की अभिव्यक्ति जितनी अधिक स्थूल होगी, उस पर 'वाक्' (माया) का आवरण उतना ही गहरा होगा और रस-स्वरूप आत्मा (कवि) उतना ही परोक्ष रहेगा। इसके विपरीत उसकी अभिव्यक्ति जितनी सूक्ष्म होगी, 'वाक्' का आवरण उतना ही हलका होगा और आनन्दस्वरूप आत्मा उतना ही अधिक

प्रत्यक्ष होगा। अतएव हमारे स्थूल शरीर में वाक् (माया या प्रकृति) का आवरण बहुत स्थूल होने से, 'कवि' (आत्मा) पूर्णतया परोक्ष रहता है और उसकी जो अभिव्यक्ति भी होती है, वह केवल आभास-मात्र; रसस्वरूप ब्रह्म का जो क्षुद्रतम परमाणु मिलता भी है, वह भी माया-शवलित। यही कारण है कि हम अपने स्थूल अङ्गों से जिन भोगों को भोगते हैं, उनसे हमें केवल क्षणिक सुख ही मिलता है, जिससे हमारी 'प्यास' अतृप्त ही रह जाती है।

इसके अतिरिक्त वाक्-कवि या माया-ब्रह्म एक ही रस-स्वरूप आत्मा के ऋण तथा धन पक्ष होने के कारण, वाक् द्वारा अभिव्यक्त 'कवि' का स्वरूप रसात्मकता में अरसात्मकता अथवा वि-रसात्मकता भी मिश्रित रखता है। इसके फलस्वरूप परम चैतन्य तथा आनन्द-स्वरूप आत्मा की अभिव्यक्ति हमारे स्थूल शरीर में, पानी के बुदबुदों की भाँति, अनेक क्षणिक भावों के रूप में होती है। परन्तु ज्यों ही हम स्थूल शरीर से सूक्ष्म की ओर जाते हैं, त्यों ही बात बदल जाती है—रसात्मकता में निरसात्मकता की कटुता कम होने लगती है, भावों की क्षणभङ्गुरता के स्थान पर स्थायित्व आने लगता है और अनेकता एकता की ओर अग्रसर होने लगती है यहाँ तक कि 'विज्ञानमय' कोश में जाकर सारा नानात्व एकत्व में परिणत हो जाता है, जिसके भीतर संज्ञान, आज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम आदि सभी का समावेश हो जाता है*। अनेकता के साथ ही उनकी विभिन्नता भी चली जाती है और वहाँ केवल 'रस' (आनन्द) की ही अनुभूति होती है। इसीको रस की मधुमती भूमिका कहा है, जिसका चित्र पातञ्जल योग के भाष्यकार व्यास ने इस प्रकार दिया है: —

* ऐ० उ० ३, २–३।

मधुमतीं भूमिकां साक्षात्कुर्वतोऽस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते "भोऽत्रहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते, वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमा, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षय-मजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति।

यहाँ पर आनन्द के अनेक भौतिक और अलौकिक प्रतीकों के द्वारा विज्ञानमय कोशस्थ मधुमती भूमिका की 'रसानुभूति' का स्वरूप दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। वेद में इसका वर्णन और सरल तथा सरस है:—

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोकायत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि।
यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधि।
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि।
(ऋ० वे० ६, ११३, ७-१०)

उपर्युक्त अनेक क्षणिक भावों तथा 'एक' भाव रस के बीच में उन भावों की स्थिति है, जो कई हैं और स्थायी हैं। यदि हम कोशों को ध्यान में रखकर चलें, तो 'अन्नमय' में स्थूल इन्द्रियों के सन्निकर्ष से होने वाली अनुभूतियाँ ही क्षणिक भाव हैं जो प्रतिक्षण बदलते रहते हैं और 'विज्ञानमय' में इन सब का एक तथा साधारणीकृत रूप है। इन दोनों कोशों के बीच में, 'प्राणमय' कोश में पहुँचकर 'अन्नमय' के क्षणिक भाव स्थायित्व ग्रहण कर लेते हैं और मनोमय में जाकर यही

स्थायीभाव रसत्व ग्रहण कर लेते हैं। स्थायीभावों की इन दोनों अवस्थाओं में कोई गुण-भेद नहीं है, केवल मात्रा-भेद है। अतः भानुदत्त ने अपनी रसतरङ्गिणी में पहली अवस्था के स्थायीभावों को 'अलौकिक रस' कहा है। इन दोनों की व्याख्या करते हुए तरङ्गिणीकार ने कहा है कि पहले प्रकार के तो वे रस हैं, जो व्यावहारिक जीवन में अनुभव किये जाते हैं, जब कि दूसरे प्रकार के वे हैं, जिनकी अनुभूति स्वप्न देखने, मनोराज्य करने तथा काव्य आस्वादने में होती है। इसलिये रसानुभूति की अवस्थायें निम्नलिखित कही जा सकती हैं—

१—अन्नमय कोश — क्षणिक भाव

२—प्राणमय कोश — नव स्थायी भाव (लौकिक रस)

३—मनोमय कोश — नव रस (अलौकिक रस)

४—विज्ञानमय कोश — एक रस (ब्रह्मानन्द सहोदर)

रसानुभूति के स्तर-भेद के अनुसार, रस के विभावक पदार्थों अथवा काव्यों के भी चार भेद हो सकते हैं:—

(१) *सञ्चारी काव्य*, जो केवल क्षणिक भावों का उद्रेक कर सकते हैं।

(२) *स्थायी काव्य*, जो स्थायी भावों का विभावन कर सकते हैं।

(३) *रस काव्य* जो उक्त भावों को अत्यधिक तीव्र तथा सरल करके उन्हें रसत्व प्रदान कर देते हैं।

(४) एक-रसकाव्य, जो अनेक रसों की परिणति केवल एक 'रस' में कर सकता है। वास्तव में इस प्रकार का कोई काव्य 'रसकाव्य' से भिन्न नहीं होता, अपितु 'रस-काव्य' ही काव्यास्वादक के सहृदयपन, आस्वादन-प्रयत्न आदि अनेक परिस्थितियों के कारण 'रस' मात्र की अनुभूति कराने में समर्थ हो जाता है। अतः वस्तुतः काव्य के भेद तीन ही हैं।

(६) नाट्य — श्रेष्ठ-काव्य

परन्तु, सभी काव्य रसानुभूति की अन्तिम अवस्था तक पहुंचाने में एक से समर्थ नहीं हो सकते। ऊपर विष्णु-धर्मोत्तर में वर्णित नाट्य, गान, नृत्त, चित्र तथा मूर्ति नामक काव्यों का उल्लेख किया है। इनमें से कुछ तो केवल दृश्य हैं और कुछ केवल श्रव्य; इन दोनों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार का काव्य वह है, जो दृश्य तथा श्रव्य दोनों होने के कारण 'मिश्र' कहा सकता है। ऐसा काव्य ही वस्तुतः सर्वोत्कृष्ट रसानुभूति कराने में सब से अधिक तथा सुगमता के साथ सफल हो सकता है, क्योंकि जहाँ अन्य काव्य केवल श्रोत्र या केवल नेत्र द्वारा हमें विभावित करेंगे, वहाँ 'मिश्र' काव्य दोनों इन्द्रियों द्वारा अपना प्रभाव डालेगा। इस प्रकार का काव्य 'नाट्य'* ही हो सकता है, परन्तु 'नाट्य' को नाटक का पर्यायवाची समझना भूल होगी, क्योंकि इसके तत्व न केवल गीत, अभिनय तथा रस हैं, अपितु चौथा तत्व† पाठ भी है, जिसके साथ इतिहास-सहित वेद, धर्म, अर्थ, उपदेश तथा 'संग्रह' का सम्बन्ध होने से, नाट्य नाटक से पूर्णतया पृथक हो जाता‡ है। नाट्य शब्द की उत्पत्ति 'नट्' धातु से हुई है, जिसका प्रयोग केवल नृत्त, नृत्य, अभिनय आदि अर्थों में होता है; अतः उक्त 'नाट्य' को 'भरतनाट्य कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि प्रसिद्ध संगीत मर्मज्ञ श्री जयदेवसिंह के अनुसार 'भरत' शब्द के भ, र तथा त क्रमशः भाव, राग एवं ताल के भी द्योतक हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में कालिदास ने 'चलित' नामक नाट्य का जो वर्णन किया है, उससे भी 'नाट्य' के

---

* ना० शा० १, ११।

† जग्राह पाठमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ (ना० शा० १, १, १७)

‡ ना० शा० १, १२-१६।

× पा० धा० पा० १, ३३२; १, ८, १८; १०, १२।

ऐसे ही रूप का पता चलता है, जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य, भाव, राग, ताल और अभिनय सभी का समावेश था 'चलित' में पहले मुरज० वाद्यनाद होता है; फिर मालवि का 'उपगान' करके चतुष्पद गीत गाती है और गीत के वचनों को अपने अङ्गों द्वारा 'अभिनय' करती हुई 'नाट्य' करती है, जिसका सुन्दर-वर्णन निम्नलिखित है,—

> अङ्गैरन्तर्निहित-वचनैः सूचितः सम्यगर्थः ।
> पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
> शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ ।
> भावो भाव नुदति विषयाद् राग-बन्ध स एव ।

'चलित' नाट्य के उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत गीत, वाद्य, अभिनय, नृत्य आदि के रूप में दृश्य तथा श्रव्य दोनों तत्व रहते थे। परन्तु, 'चलित' नाट्य तो एक प्रकार है जिसमें एक *गीत के अर्थ को ही अभिनीत किया गया; नाट्य के व्यापक क्षेत्र में तो* 'लोक-चरित'* का प्रदर्शन हो सकना भी सम्भव था:—

> त्रैगुण्योद्भवमत्र लोक-चरितं नाना-रस दृश्यते ।
> नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

'लोक-चरित' के प्रदर्शन ने ही रूपकों का रूप धारण कर लिया। अतः भारतीय नाट्यशास्त्र में नृत्य, अभिनय, वाद्य, गीत आदि के साथ साथ 'रूपकों' का भी विवेचन किया गया है। नाट्य विशेषतया रूपक—में पद्य-गीतों के साथ ही 'गद्य'† वाक्यावली का भी थोड़ा बहुत प्रयोग होता होगा। परन्तु, गद्य 'नाट्य' की दृष्टि से, प्रारम्भ में, पद्य की अपेक्षा कम महत्व की रही होगी, क्योंकि वह तो केवल बोली ही जाती थी, जिस कारण उसका नाम 'गद्य' (बोलने योग्य) था।

---

* ना० शा० ३६, ११ ।

† देखिये ना० शा० १८ वाँ अध्याय ।

इसकी आवश्यकता तो कथानक के वर्णन मात्र के लिये थी और रसोत्पत्ति से उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। इसके विपरीत पद्य-गीत ही में ऐसी लय होती थी, जिसके अनुसार नृत्य में पाद-न्यास किया जा सके, इसी कारण उसको गत्यर्थक 'पद्'* धातु से निष्पन्न 'पद्य' नाम दिया गया है— इस प्रकार 'नाट्य' के संसर्ग में रहने से ही पद्य-गीतों के अन्तर्गत भागों को पद, पाद अथवा चरण कहा गया, क्योंकि प्रत्येक पद्य-भाग के साथ एक विशेष पाद-न्यास होता था— प्रत्येक पद्य-भाग पदनीय अथवा चलनीय था। अतः जिस प्रकार पाश्चात्य 'लिरिक' (गीति काव्य) का नामकरण 'लायर' (एक वाद्य-विशेष) के संसर्ग में हुआ उसी प्रकार भारतीय पद्यगीतों या पदों के नामकरण का श्रेय नाट्य को है।

नाट्य की उपयोगिता का रहस्य काव्य-मात्र की रसात्मकता में निहित है। काव्य तो वही है जो 'कवि पुराण' को व्यक्त करे और रस-स्वरूप आत्मा को आस्वाद्य बना सके। योगी इस आस्वादन के लिये मनन, निदिध्यासन तथा समाधि का सहारा लेता है—बाह्य इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता हुआ सविकल्पक समाधि में पहुँचकर इस अनुभूति को प्राप्त करता है। काव्य का मार्ग दूसरा ही है; नाट्यशास्त्र ने उसको भाव-विभाव-अनुभाव-संचारिभाव-संयोग कहा है। दूसरे शब्दों में, काव्य ऐसे बाह्य-विभावों की सृष्टि करता है, जो काव्यास्वादक के हृदय में एक प्रमुख भाव का उद्रेक तथा उद्दीपन करे और उसको संचारिभावों द्वारा पुष्टकर रस रूप में परिणत करदे। संगीत से श्रौत तथा चित्र अथवा मूर्ति से चाक्षुष विभावों की ही सृष्टि होती है जो श्रोत्र या चक्षु इन्द्रिय द्वारा हमारे भीतर किसी भाव-विशेष को विभावित तथा पोषित करते हैं, परन्तु इन विभावों के एक-देशीय होने के कारण उस भाव के लिये

* पा० धा० पा० १, ६०, १०, ३२० ।

रसत्व ग्रहण करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसके विपरीत नाट्य में श्रव्य और दृश्य दोनों तत्व होने से विभावों का क्षेत्र अधिक व्यापक तथा विस्तृत हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप भावों का विभावन तथा पोषण अधिक सरल हो जाता है; एक ही भाव को उद्दीप्त तथा पुष्ट करने के लिये वाद्य, गान, अभिनय, नृत्य आदि नाट्य के सभी अङ्ग तदनुकूल विभाव उत्पन्न करने की श्रेष्ठतम चेष्टा करते हैं, जिससे विभावों की व्यापकता के साथ साथ उनकी तीव्रता भी बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त नाट्य के रूपकत्व द्वारा 'लोक-चरित' का प्रदर्शन करने के लिये जिस कथा, अवस्था या घटना-क्रम का सहारा लिया जाता है, वह उस भाव-विशेष के मूर्त तथा जीवित रूप को हमारे सामने खड़ा कर देता है, जिससे वह साधारण सहृदय के लिये भी ग्राह्य हो जाता है।

नाट्य के विभिन्न अङ्गों के सहयोग से एक ही रस-विशेष की निष्पत्ति अभीष्ट होने के कारण, नाट्य में प्रयुक्त पद्य-गीतों को भी अपना स्वरूप उसी रस के अनुकूल ढालना पड़ता था, जिसकी निष्पत्ति के लिये अन्य नाट्य-अंग प्रयत्नशील होते थे। अतएव भारतीय नाट्य-शास्त्र के बीसवें अध्याय में 'वृत्तिविकल्प' का वर्णन किया गया है और अन्यत्र यह भी बतलाया गया है कि किस रस के लिये किस वृत्ति को जागृत करना तथा किन किन गुणों या अलङ्कारों का प्रयोग करना चाहिये। शृङ्गार तथा करुण रस में माधुर्यगुणोत्पादक मृदुवर्णों तथा वीर, रौद्र तथा वीभत्स में ओजगुणोत्पादक परुष वर्णों का अनुप्रास सहायक माना जाता है। इसी प्रकार रसानुकूल यमक का प्रयोग भी अनुप्रास का आनन्द दे सकता है और सरल उपमा, रूपक तथा दीपक से पद्य-गीत की रसात्मकता में वृद्धि हो सकती है। यही कारण है कि संस्कृत पद्य में रस के अनुकूल ध्वनि रखने की प्रणाली अब तक चली आती है। रसानुरूप-शब्दयोजना का सब से सर्वोत्तम उदाहरण प्रसिद्ध शिवताण्डव स्तोत्र में मिल सकता है, जिसको आज भी कथक लोग

अपने नृत्त में उतारते हैं और उसमें रस-निष्पत्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। यहाँ पर उसकी कुछ पंक्तियाँ दे देने से यह बात भलीभाँति प्रकट की जा सकती है:—

जटाटवीगलज्जल-प्रवाहपावितस्थले।
गलेऽवलम्ब्य लम्बितां भुजङ्गतुङ्गमालिकाम्।
डमड्डमड्डमड्डमन्निनादवड्डमर्वयम्।
चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम्।
जटा कटाह सम्भ्रमं भ्रमन्निलिम्पनिर्झरी।
विलोल वीचिवल्लरी विराजमान मूर्धनि।
धगद्धगज्जवलल्ललाटपट्टपावके।
किशोरचन्द्रशेखरे रति प्रतिक्षणं मम।

परन्तु, नाट्य-गीतों में ऐसे अलंकारों का कोई स्थान नहीं हो सकता, जिनको समझाने में बुद्धि-प्रयोग करना पड़े और मस्तिष्क पर जोर लगाना पड़े। इसीलिये भरत ने केवल उपमा, रूपक, दीपक, यमक एवं अनुप्रास का ही उल्लेख किया है और श्लेष आदि को पूर्णतया छोड़ दिया है, क्योंकि उक्त रस-नाट्य परम्परा में अलङ्कार-सौन्दर्य परखने के लिये मनन चिन्तन करने का अवकाश कहाँ।

इस प्रकार अनेक रसात्मक तत्वों को रस-निष्पत्ति के लिये उपयुक्त विभावों के रूप में एकत्र करके नाट्य न केवल अन्य काव्यों में श्रेष्ठ हो सकता था, अपितु धर्म-संस्थापन का एक प्रबल साधन भी हो सकता था, और सम्भवतः बहुत काल तक वह इस अवस्था में रहा भी। नाट्य शास्त्र* के अनुसार 'नाट्य' की सृष्टि वेदव्यवहार को सार्ववर्णिक बनाने के उद्देश्य से हुई और इसमें धर्म, अर्थ, यश आदि से सम्बन्ध रखने वाले सभी मानव-कर्मों की शिक्षा होती है। एक

* १, ११—१६।

समय जिस प्रकार समाज में कृत्रिम वेदियों पर होने वाले अग्निष्टोमादि यज्ञ हमारे पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड की प्राकृतिक वेदियों में होने वाले आध्यात्मिक यज्ञ के प्रतीक तथा अभ्याख्यान होकर वैदिकज्ञान को सभी वर्णों के लिये प्रत्यक्ष करते थे, उसी प्रकार ऋग्वेद के सम्वाद सूक्तों को रूपकत्व प्रदान करके 'सोमक्रयण' आदि में अवस्थानुकृति करके अथवा 'महाव्रत' आदि में पद्य-गीतों का नृत्त-समन्वित नाट्य करके अथवा महाभाष्य में उल्लिखित 'कंसवध', 'बलि-वध' जैसे लोकचरितों का प्रदर्शन करके अथवा रामायण आदि का अभिनय करके 'वेद-ज्ञान' या 'वेद-व्यवहार' को सभी वर्णों के लिये बोध-गम्य बनाया जाता था। वेद-ज्ञान तथा वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक बनाने वाले प्रयत्नों का तत्वतः एक ही मार्ग था, और वह था अमूर्त को मूर्त, सूक्ष्म को स्थूल, अन्तः को बाह्यः तथा अनिरुक्त को निरुक्त करना। इसके लिये, धारणा, ध्यान तथा समाधि का मार्ग तो केवल ब्राह्मणों या योगियों के लिये ही सम्भव था, क्योंकि अन्य वर्ण (क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र) जीवन संग्राम में ऐसे व्यस्त थे कि उनको न तो इतना समय ही था और न शक्ति ही जो वे साधना के इस सूक्ष्म-पथ को ग्रहण करते। वे तो प्रवृति-मार्ग पर चलते हुए उक्त स्थूल-पथ का ही सहारा ले सकते थे। ब्राह्मणवर्णिक तथा सार्ववर्णिक मार्गों का यह भेद मनुष्यों के सामाजिक गुण, कर्म तथा शक्ति पर आश्रित था न कि उनकी जन्मजात परिस्थितियों पर। नाट्य आदि सभी कार्यों का उद्देश्य जनसाधारण को रसानुभूति के लिये तैयार करना तथा वेद-व्यववहार को सिखाना था। अतः उक्त सार्ववर्णिक आयोजन सार्वजनिक आयोजन होते थे, जिनमें आबालवृद्ध सब भाग लेते थे, जब कि ब्राह्मणवर्णिक वैयक्तिक साधना के लिये व्यक्तिगत तैयारियों की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति वेदाध्ययन द्वारा हो सकती थी; अतः यह साधना कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के ही वश की बात थी। अस्तु, नाट्य जनता के लिये था जो सम्भवतः जनता के दक्ष व्यक्तियों द्वारा आयोजित होता था।

(७) काव्य या साहित्य ।

वैदिककाल में नारद के प्रश्न में जो उदार दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है, वह सभी प्रकार के काव्यों के क्षेत्र में भी रहा होगा, क्योंकि उस समय समाज के किसी व्यवहार में संकीर्णता अथवा अनुदारता का परिचय नहीं मिलता। परन्तु, आगे चलकर यह बात न रह सकी और समाज में वैषम्य, भेदभाव, संकीर्णता तथा अनुदारता ने घर कर लिया। इस परिवर्तन का कारण सम्भवत वे प्रतिबन्ध और प्रतिषेध हैं जिनकी सृष्टि सूत्रकाल में हुई।

आर्य जाति के इतिहास में कोई ऐसी घटना अवश्य हुई प्रतीत होती है, जिसके कारण उसको अपनी संस्कृति-रक्षा के लिये कुछ सामाजिक प्रतिबन्धों की सृष्टि करना पड़ी। गृह्यसूत्रों में स्त्रियों के यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन का अधिकार छीन लेने के विषय में शास्त्रार्थ मिलता है, जिसके परिणामस्वरूप ही सम्भवत आगे चलकर उनका यह अधिकार छीन लिया गया। बहुत सम्भव है कि ऐसे ही किसी बाहरी प्रभाव से अपनी संस्कृति को बचाने के लिये ही वेद को लिखने तथा प्रतिलोम विवाह करने आदि का निषेध किया गया हो और आर्य लोग विजातियों को निम्नवर्ग में डालकर स्वयं उच्चवर्गीय बन गये हों। परन्तु, इस प्रश्न पर अत्यन्त गम्भीर विचार करने के पश्चात्, मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि बहुत प्राचीनकाल में ही हमारे देश में बाहर से कोई ऐसी जाति आई, जो वेश्यावृत्ति, पशु बलि आदि के साथ साथ समाज में वर्गवाद तथा जाति-प्रथा भी लाई, क्योंकि मैं अधिकारपूर्वक कह सकता हूँ ये बुराइयाँ वैदिक समाज में नहीं थीं। कुरीतियों के इस आघात से ही, समाज में संकीर्णता तथा भेद भाव की उत्पत्ति हुई और जो 'वर्ण' शब्द केवल वर्णनात्मक था और व्यक्तियों के गुण, कर्म आदि का वर्णन भर करता था, वही अब ऐसे वर्ग के लिये प्रयुक्त होने लगा, जो जन्म तथा परम्परागत कर्म

पर आश्रित था। चातुर्वर्ण्य का आधार गुण-कर्म के स्थान पर जन्म होने से बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया; समाज में समत्व के स्थान पर वैषम्य आगया और आर्य-अनार्य, ऊँच-नीच, पवित्र-अपवित्र तथा स्पर्श्य-अस्पर्श्य के भेद-भाव का उदय हुआ हुआ। इस नई विचार-धारा का पुरानी विचारधारा से पर्याप्त संघर्ष होना स्वाभाविक था; परन्तु इस संघर्ष में विजय नई को ही प्राप्त हुई लगती है। क्योंकि यद्यपि दार्शनिक जगत् में श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा तथा काव्य (कला) के क्षेत्र में भरत-नाट्यशास्त्र जैसे ग्रन्थों द्वारा चातुर्वर्ण्य के पुराने आदर्श की पुनः स्थापना सी की गई है, परन्तु यथार्थतः इनका उद्देश्य, दोनों विचार-धाराओं में समझौता कराना ही है, जो व्यवहार में स्थायी रूप से सफल न हो सकने के कारण नई लहर को न दबा सका।

इस परिवर्तन का प्रभाव काव्य मात्र पर पड़ा और नाट्य को तो इसने पूर्णतया बदल दिया। अतः नट, नर्तक तथा शैलूष आदि वैदिक* काल में पवित्र लोग समझे जाते हैं, परन्तु रामायण† तथा महाभारत में वही गर्हित तथा आचार-भ्रष्ट समझे जाते हैं। नाट्य के वातावरण की यह विकृति निश्चित रूप से सूत्रकाल में प्रारम्भ होगई थी, क्योंकि नृत्य, गीत, वाद्य आदि जो कौषीतकी ब्राह्मण‡ में आदरणीय तथा पवित्र कलायें हैं, वही पारस्कर× गृह्य सूत्र में द्विज-वर्णों के लिये सर्वथा त्याज्य समझी गई हैं। नाट्य की यह दुरवस्था विद्वत्समाज (ब्राह्मणों) की अवहेलना का कारण तथा परिणाम दोनों ही रहे होंगे। वर्णवाद में विश्वास करने के कारण, विद्वद्वर्ग ने निम्नवर्ग को ऊपर उठाकर अपने स्तर में लाने की अपेक्षा, उनसे पृथक होना

---

* वा० सं० ३०, ४; तै० ब्रा० ३, ४, २; कौ० ब्रा० २६, ९।
† म० भा० १३, ३३, १२ रा० २,६७, १५, २, ६६, ३।
‡ २६, ९।
× २, ७, ३।

अधिक अच्छा समझा; पतित तथा आचारभ्रष्ट नटों को सुधारने की अपेक्षा उन्होंने अपने लिये पृथक काव्य की सृष्टि करना अच्छा समझा जिससे वे उस अहित वातावरण से बचे रह सकें। इसलिये जिस 'काव्य' शब्द का प्रयोग कला मात्र के लिये होता था, वह केवल विद्वानों की 'कला' के लिये ही प्रयुक्त होने लगा, जिसको वे लोग उक्त अ-हित नाट्यादि के विपरीत स-हित बनाने की इच्छा से 'साहित्य' कहने लगे।

इस साहित्य या काव्य के भी श्रव्य, दृश्य तथा मिश्र भेद ही रहे, परन्तु इनके अन्तर्गत लिखित काव्य ही हो सकता था, क्योंकि मूर्ति, संगीत, चित्र तथा नाट्य आदि तो निम्नवर्ग के अहित वातावरण में थे, जिससे दूर रहना ही अधिक अच्छा समझा जाता था। श्रव्य काव्य में गद्य तथा पद्य दोनों का अन्तर्भाव था और मिश्र में दोनों का मिश्रण। दृश्य काव्य सम्भवतः बहुत काल तक विद्वानों द्वारा उपेक्षित हो रहा; परन्तु, जैसा वात्स्यायन के काम-सूत्र से पता चलता है, लगभग चौथी या पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में किसी न किसी प्रकार के सुरुचिपूर्ण तथा स-हित श्रव्य-काव्य का होना नागरिक जीवन के लिये अनिवार्य समझा जाता था। इसी प्रवृत्ति के अनुसार, नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने गीत, वाद्य, रूपक तथा अभिनय आदि को सुसंस्कृत रुचि के अनुकूल तथा वैदिक सदाचार के अनुरूप बनाके सहित श्रव्य काव्य की परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित किया। परन्तु, कालान्तर में विद्वद्वर्ग ने नाट्य के अन्य प्रकारों को छोड़कर केवल रूपकों को ही अधिक अपनाया, क्योंकि इसमें आदर्श लोकचरितों का चित्रण होने के कारण सदाचार की पुष्टि अधिक सम्भव थी। अतएव श्रव्य-काव्य में एक रूपक-परम्परा चल पड़ी, जो वर्तमानयुग तक चली आ रही है।

साहित्यवादी विद्वानों के हाथों में काव्य ने जब नया रूप पाया, तो उसका केवल क्षेत्र ही सीमित नहीं हो गया, अपितु उसके परिमित

कलेवर में बहने वाले 'रक्त' को स्वस्थ तथा शुद्ध करने के लिये 'शल्य-चिकित्सा' का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया। 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' रस को काव्य का लक्ष्य मानते हुए, उन्होंने तद्विरोधी बातों को पूर्णतया निकाल फेंका। यही कारण है कि 'नाट्य' के विभिन्न अङ्गों में, भारतीय नाट्य-शास्त्र में सभी के लिये वेदानुकूलता देने का प्रयत्न होने पर भी, केवल 'रूपक' ही अपनी स्थिति को अक्षुण्ण रख सका; और रूपकों में भी उन्हीं प्रकारों का प्रचार अधिक हुआ, जो सुरुचि, सदाचार तथा मर्यादा को अच्छे प्रकार निभा सकते थे। अतएव नाट्यशास्त्र में 'समवकार' आदि के लिये बहुत से 'बन्धकुटिलानि' वर्जित कर दिये गये और 'प्रहसन' में केवल 'लोकोपचारयुक्ता वार्ता' को स्थान दिया गया। इसी मर्यादावादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप नाटक-नाटिकाओं के अतिरिक्त रूपक के अन्य प्रकारों को पनपने का अवसर कम मिला।

साहित्यवाद या मर्यादावाद की इस काँट-छाँट के होते हुए भी, काव्य ने अपने नये रूप में पुरानी सभी स्वस्थ प्रवृत्तियों को प्रायः बनाये रक्खा। रस-निष्पत्ति अन्तिम ध्येय होने के कारण तदनुकूल 'गुणों' तथा 'ध्वनियों' का काव्य में होना पहले के समान ही चलता रहा है। यही कारण है कि न केवल संस्कृत पद्य-काव्यों में अपितु गद्य-काव्यों में भी विषय तथा परिस्थिति के अनुकूल भाषण-ध्वनियों का प्रयोग करने का प्रयत्न किया जाता है। पद्य की संगीतात्मकता तथा नाटक में गीत और वाद्य का प्रचुर प्रयोग भी इसीलिये बना रहा। 'नाट्य' के सभी अङ्ग 'नाटक' में होने से, उसको 'रस-निष्पत्ति' के लिये सब से अधिक उपयुक्त समझा गया; इसलिये संस्कृत में अन्य रूपकों की अपेक्षा नाटक ही अधिक लिखे गये।

काव्य की परिधि सीमित होने पर पद्य तथा गद्य को विकसित होने का अवसर मिला, क्योंकि अब उन पर से 'नाट्य' का प्रभुत्व हट गया और उनकी रचना स्वतन्त्ररूप से होने लगी। अब नाट्यशास्त्र में

उल्लिखित चार साधारण प्रबन्धकारों के अतिरिक्त अन्य प्रबन्धकारों का भी प्रयोग होने लगा। नाट्य के दायरे में रहते हुए पद्य में कोई प्रबन्धात्मकता सम्भव नहीं थी, स्वतन्त्र होने ही उसमें नये नये प्रबन्ध-स्वरूपों की सृष्टि होने लगी। अब पद्य केवल 'श्रव्य' न रही, वह लिखी तथा पढ़ी भी जाती थी, इसीलिये उसमें बुद्धितत्व के लिये अधिक अवकाश था।

गद्य के लिये तो यह स्वतन्त्रता अत्यन्त लाभप्रद हुई। नाट्य के दासत्व में रहते हुए तो उसे काव्य-रूप ग्रहण करने का अवसर ही न मिलता था। परन्तु, अब उसने कथा, कहानी, आख्यान तथा आख्यायिका आदि के रूप धारण किये और पद्य के सभी शृङ्गार, सौष्ठव तथा शक्ति-विभव को प्राप्त किया। परन्तु विद्वानों के हाथ में पड़कर जहाँ गद्यकाव्य तथा पद्य-काव्य को स्वतन्त्र विकास का अवसर मिला वहाँ उसमें बुद्धितत्व का प्राधान्य भी बढ़ता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कभी कभी तो बौद्धिक कलाबाजी को ही काव्य समझ लिया गया और रस-निष्पत्ति का लक्ष्य केवल 'दम्भ' मात्र रह गया।

(८) साहित्य काव्य के भेद ।

काव्यरस का विवेचन करते हुए, हम देख चुके हैं कि सभी 'कोशों' में आनन्दस्वरूप आत्मा की अभिव्यक्ति समान नहीं होती। पाँचों कोशों में रसानुभूति की अवस्थाओं को क्रमशः शुद्ध-रस (ब्रह्मानन्द) काव्य-रस (ब्रह्मानन्द सहोदर), रस-आभास, स्थायीभाव तथा संचारी भाव। कहा जा सकता है जिस कवि की आत्मानुभूति जिस कोश की होगी, उसकी अभिव्यक्ति भी उसी स्तर की होगी। अतः काव्य के भी इस दृष्टि से पाँच भेद किये जा सकते हैं। राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में इसी बात को ध्यान में रखकर काव्य के क्रमशः स्वायंभुवं, ऐश्वरं, आर्षम्, आर्षिकम् तथा आर्षीपुत्रकम् नाम से पाँच भेद किये हैं। एक दूसरा विभाजन वैदिक साहित्य में अभिप्रेत है; उसके अनुसार प्रत्येक

कोश की अनुभूति प्राप्त किया हुआ कवि तथा उसके काव्य का वर्णन परस्पर=विलोम धातुओं द्वारा किया जाता है:—

कोश	कवि	काव्य
१—आनन्दमय	देव (दिव् धातु)	वेद (विद्धातु)
२—विज्ञानमय	कवि (कव् धातु)	वाक् (वक् धातु)
३—मनोमय	मनीषी (मन् धातु) या मनः (,,)	नाम (नम् धातु) नमः (,,)
४—प्राणमय	परिभू या प्रतिभू	प्रभा या प्रतिभा
५—अन्नमय	पुर	रूप

(६) आदि कवि और आदि कविता

भारतीय परम्परा के अनुसार वाल्मीकि (वाल्मीक) आदि कवि माने जाते हैं। कहा जाता है कि वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे, परन्तु बचपन में ही उन्हें माता-पिता ने त्याग दिया, कुछ पार्वतीय लुटेरों ने उन्हें शरण दी और लूट-पाट का पेशा सिखाया, जिससे वे जीवन निर्वाह करने लगे। एक दिन उन्होंने एक साधु को देखा। उसके पास जाते ही उन्होंने कहा, "जो कुछ हो, वह रख दो; नहीं तो जीवन से हाथ धोना पड़ेगा।" साधु ने वाल्मीक को यह जानने के लिये घर भेजा कि उनके अन्य सम्बन्धी इन कुकर्मों में साथी हैं या नहीं। जब वह अपने घर पहुँचे, तो उनका भ्रम जाता रहा। स्त्री और बच्चे तक उनके कुकर्मों में साथ देने के लिये तैयार न थे। साधु ने उन्हें उल्टा राम नाम जपने का उपदेश दिया और स्वयं वहाँ से चला गया। वर्षों तक वे राम का नाम जपते रहे। बैठे-बैठे उनके शरीर पर एक भारी बाँबी बन गई। अन्त में वही साधु आया और उसने वल्मीक (बाँबी) में से उन्हें निकाला। वल्मीक में से निकलने के कारण उनका नाम वाल्मीकि

हो गया और वे बड़े भारी ऋषि हो गये। एक दिन जब वे स्नान कर रहे थे, तो उन्होंने देखा कि एक निषाद ने क्रौंच-मिथुन में से एक को मार डाला है। ऋषि के हृदय में मृत पक्षी के लिये करुणा उमड़ पड़ी। घातक पर क्रोध करके उन्होंने उसे शाप दिया। यह शाप अनायास ही एक श्लोक के रूप में उनके मुँह से निकल पड़ा। यह सब से पहली कविता थी। ब्रह्माजी के कहने से तब महर्षि वाल्मीकि ने रामायण नाम का एक काव्य लिखा।

यह एक छोटीसी कथा है, जो आदि कवि तथा आदि कविता के विषय में कही जाती है। साधु-सन्तों के सम्बन्ध में अलौकिक घटनाओं को सुनने के हम अभ्यस्त हैं, अतः वाल्मीकि के जीवन की घटनाओं पर हम भले ही विश्वास करलें, परन्तु यह विश्वास करना कि वाल्मीकि से पहले कविता ही नहीं थी और सब से पहले उन्होंने ही कविता की, सब के लिये सम्भव नहीं। हम देखते हैं कि रामायण के बहुत पहले ही एक विशाल वैदिक साहित्य विद्यमान था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार यदि चार संहिताओं को अपौरुषेय माना जाय, तो भी तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् साहित्य में जो कवित्वपूर्ण स्थल भरे पड़े हैं, उनको देखकर रामायणकार को आदि कवि नहीं माना जा सकता। यदि सारे वैदिक साहित्य को ही अपौरुषेय मानलें, तब भी भाषा तथा साहित्य के क्रमिक विकास में विश्वास रखने वाला वर्तमान युग यह कभी नहीं मान सकता कि रामायण जैसे उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि यकायक बिना किसी पूर्व परम्परा के होगई। थोड़ी देर के लिये यह भी मानलें कि अलौकिक-सत्ता-सम्पन्न ऋषियों के लिये इस प्रकार के चमत्कार कर दिखाना कोई असम्भव नहीं है, तो भी यह कैसे सम्भव है कि उससे पहले मनुष्य हृदय रखते हुए भी अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में न करता कराता हो और फलतः किसी न किसी प्रकार के काव्य का निर्माण न करता हो।

जब रसात्मकता कविता का प्रधान गुण है और यह सचमुच 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' है, तो कविता का प्रारम्भ तभी से मानना पड़ेगा जब से मनुष्य में रसानुभूति की शक्ति है, क्योंकि वह अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति किये बिना नहीं रह सकता, चाहे वह अभिव्यक्ति गद्य में हो या पद्य में, अनुष्टुप में हो या त्रिष्टुप में। रेडियो, रेल, तार आदि वस्तुओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनका जन्म अमुक देश में, अमुक काल में और अमुक व्यक्ति के द्वारा हुआ क्योंकि वे दृश्य-मूला वस्तुयें हैं, जिनका समाज ने अपने जीवन काल में न केवल प्रारम्भ और विकास देखा है, अपितु उनका पूर्व-अभाव भी देखा है। परन्तु, कविता तो अनुभूति-मूला होने से इस पदार्थ-वर्ग में नहीं आ सकती; वह तो इच्छा, ज्ञान, क्रिया, भाषण, प्राण, मन आदि तत्वों के वर्ग में आती है, जिनका व्यक्ति तथा समाज के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और जो किसी न किसी रूप में तब से हैं, जब से व्यक्ति या समाज का अस्तित्व है। इसलिये समाज अथवा भाषण, भाषा आदि सामाजिक सम्पत्तियों के इतिहास में कविता का प्रारम्भ कब और किस के द्वारा हुआ यह बतलाना उतना ही असम्भव है, जितना प्राण, मन अथवा समाज आदि के उत्पत्तिकाल को बतलाना।

परन्तु, इससे यह अभिप्राय नहीं कि आदि कवि तथा आदि कविता के विषय में जो परम्परागत कथा चली आई है, वह निरर्थक है। वस्तुतः इतिहास तथा काल के विषय में हमने जो दूषित धारणा बना रक्खी है, उसके कारण हम उसे समझ ही नहीं पाते। हमने समझ रक्खा है कि पदार्थ-विज्ञान के जगत् के अतिरिक्त कोई जगत् ही नहीं, और न उसके प्रेरक काल से भिन्न कोई काल। यथार्थ में, जैसे पिण्डाण्ड स्थूल शरीर के अन्तर्गत आने वाले अन्नरसमय कोश तथा प्राणमय कोश तक ही समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी केवल पिण्डात्मक, रसात्मक, वायव्य तथा वैद्युत पदार्थों से निर्मित स्थूल जगत् तक ही सीमित नहीं है। स्थूल शरीर एवं स्थूल-जगत् के

पर सूक्ष्म-शरीर एवं सूक्ष्म जगत भी है, जिसको 'मनोमयकोश' कहा जाता है और जिसमें उत्पन्न होकर काल स्थूल-जगत में क्रीड़ा कर रहा है। मनोमय कोश में भी पर 'विज्ञानमयकोश' है, जिसमें कारण-शरीर और कारण जगत आ जाते हैं। इसी कोश में 'महाकाल' की क्रीड़ा दिखाई पड़ती है जो मनोमय कोश में सुविकसितहोकर स्थूल शरीर तथा स्थूल-जगत् के काल का रूप धारण कर लेता है। बहुत सी वस्तुयें, जो हमें स्थूल-जगत में अनन्त और अनादि सी दिखलाई पड़ती हैं, वास्तव में इस कारण जगत तथा महाकाल में सान्त और सादि हैं। रसानुभूति तथा तज्जन्य कविता का आदि भी हमें यहीं देखना चाहिये।

अत आदि-कविता की उत्पत्ति किसी व्यक्ति-विशेष से न मानकर जीव से मानना पड़ेगी। जीव ब्राह्मण अथवा ब्रह्म के कुल का है, परन्तु पितृ-वियुक्त होकर इस शरीर में भटकता है। शरीर में अनेक पर्व (सयुज्य भाग) हैं, अत. उसे आध्यात्मिक रूपकों में पर्वत (मू० पर्ववत्) भी कहा जाता है। इसी पर्वत पर रहने वाले काम, क्रोध आदि लुटेरे ही उस ब्राह्मण सन्तान को अपनाते हैं और उसे अपना लूट पाट का पेशा सिखलाते हैं। अन्त में परमसाधु परमेश्वर की कृपा से उसे ज्ञान होता है कि जिस माया तथा तज्जनित विषयों के लिये वह काम, क्रोधादि लुटेरों का कुत्सित पेशा करता है, वे भी उसका साथ देने को उद्यत नहीं। इस ज्ञान से उसे वैराग्य उत्पन्न होता है और सुमार्ग पर चलने की तीव्र इच्छा जाग पड़ती है। साधु उसको उल्टे राम नाम का उपदेश करता है, जिसके द्वारा वह ब्रह्म समान हो जाता है। यही महर्षि वाल्मीक हैं, जिनके विषय में तुलसीदासजी ने कहा है—

उल्टा नाम जपत जग जाना। वाल्मीक भए ब्रह्म समाना॥

परन्तु, ब्रह्म-समान होने से पहले उन्हें स्थूल-शरीर तथा सूक्ष्म-शरीर की विशाल वल्मीक (बाँबी) को हटाना पड़ता है, तब कहीं

वे वाल्मीक होकर विज्ञानमय कोश या कारण-शरीर में पहुँचकर उक्त गति को पाते हैं। ब्रह्म-समानता को ही रस के प्रसंग में ब्रह्म-सहोदरता कहा गया है और इसी को प्राप्त करके तपोशुद्ध जीव आनन्द-मयकोश की 'रामायण' को समझता है, अनुभव करता है और श्लोकबद्ध करने में समर्थ होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विज्ञानमय कोश में ही 'मधुमती भूमिका' है और वहीं पहुँचकर जीव यथार्थ 'कवि' कहलाता है।

यही आदि कवि की अवस्था है। इस अवस्था तक पहुँचे हुए योगी कवि में द्वैत-भाव नहीं रह जाता। इससे नीचे स्थूल तथा सूक्ष्म-शरीर में, जीव तथा माया आलिङ्गनबद्ध से (संपरिष्वक्तौ इव) कहे जाते थे, उन "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" में से एक मिट जाता है और केवल 'अन्यदिव' की अनुभूति मात्र रह जाती है—'यत्रवाऽन्यदिव स्यात्तत्राऽन्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्योऽन्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात्"* इस 'अन्यदिव' की अनुभूति यथार्थ 'द्वैत' नहीं है, यह तो 'अहंकार' मात्र है, जिसमें 'स्व' ही 'इदम्' रूप में रहता है:—

'अथातोऽहंकारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति।......स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स्वराट्।'†

आदिकवि के रूपक में, इसी जोड़े को क्रौञ्च-मिथुन कहा गया है, जिसमें से एक के वध होने पर, ऋषि वाल्मीक द्वारा आदि-कविता को जन्म मिलता है। क्रौञ्च शब्द ध्वन्यनुकरण-मूलक है, और जिस पक्षि-

---

* बृह० उ०-४, ३, ३१।

† वही।

विशेष को यह नाम दिया गया है, वह शब्द भी ऐसा ही करता है। योगी भी ध्यानावस्था में अनेक प्रकार के शब्द सुनता हुआ, एक ऐसे शब्द पर भी पहुँचता है, जिसको 'हूँ', मीं; क्रौञ् आदि कहा गया है और जो सुनने में क्रौञ्च-रव सा लगता है। अतः इस अवस्था में जीव-माया को क्रौञ्च-मिथुन कहना पूर्णतया उचित है। इसका वध करने के लिये योगी को, दोनों भौंहों से जो एक धनुष बनता है, उसको अपनाना पड़ता है; इस धनुष में प्रत्यञ्चा नहीं होती (तु० क० जामें पनच नहीं है रे—कबीर), नासिकाग्र से लेकर दोनों भौंहों* के बीच में स्थित ध्यान बिन्दु की ओर चित्त एकाग्र करते रहने को शर-सन्धान करना कहते हैं। स्थूल-शरीर में क्रीड़ा करने वाला मन रूपी व्याध इसी शर-संधान द्वारा एक क्रौञ्च-पक्षी को मार गिराता है; जिसके फलस्वरूप ऋषि द्वारा शापित होकर वह (मन) सदैव अशान्त तथा अस्थिर रहता है।

इस शर-संधान द्वारा लक्ष्य-वेध तभी हो सकता है, जब राम नाम का उल्टा जप कर लिया जाय। उल्टे राम-नाम का अर्थ केवल 'मरा' समझा जाता है, परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ इससे अधिक है। हम ऊपर देख चुके हैं कि आत्मा को विभिन्न अवस्थाओं में देव, कवि मन, प्रतिभू तथा पुर कहा जाता है और उसकी स्वाभिव्यक्ति को क्रमशः वेद, वाक्, नाम, प्रतिभा तथा रूप कहा जाता है। वास्तव में जिस शब्द से किसी के 'स्व' की अभिव्यक्ति होती है वही उसका नाम है। अतः सामान्यतः आत्मा की इन सभी 'अभिव्यक्तियों' को 'नाम' कहा जा सकता है। इस नाम का सीधा क्रम तो वेद, वाक्, नाम तथा रूप है, परन्तु उल्टे क्रम में रूप, नाम, वाक् तथा वेद हैं। अतः स्थूल-जगत के 'रूप' से 'वेद' की ओर आने को ही उल्टा जप कहते हैं। जो जीव स्थूल जगत के झंझटों में फँसा है, उसको ऊपर उठने का एक यही मार्ग है कि वह इस उल्टे नाम का सहारा लेकर शनैः शनैः स्थूल-

* भ० गी० ८।१०।

जगत् से सूक्ष्म तथा कारण जगत् की ओर अग्रसर हो। राम का उल्टा 'मरा' अथवा 'सोऽहं' का उल्टा 'हंसो' जपने का यही अर्थ है। सीधे नाम में शक्तिमान् से शक्ति का प्रवाह होता है, परन्तु उल्टे में शक्ति से शक्तिमान की ओर जाना पड़ता है। इसलिये ब्रह्म के नाम के पहले उसकी शक्ति का नाम रख देने से भी उल्टे नाम का सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है। अतः सीताराम, राधाकृष्ण, पार्वती-परमेश्वर आदि का भी जप किया जा सकता है। परन्तु, जप में नाम का उच्चारण मात्र पर्याप्त नहीं; नामोच्चारण तो केवल संयम, ध्यान, समाधि द्वारा स्थूल जगत से ऊपर उठने का सहारा मात्र है।

आदि-कवि-सम्बन्धी कथा की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि इसमें भारतीय साहित्य का देश-काल गत इतिहास नहीं मिलता। इस कथा से यदि रामायणकार के विषय में हमें कुछ भी पता चलता है तो यही कि रामायण के लेखक एक परम योगी थे और रामायण में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह एक साधारण कथामात्र नहीं है; उसमें उनकी उच्च आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति भी है। बहुत सम्भव है कि रामायणकार का नाम पहले से ही वाल्मीकि रहा हो, जिससे 'वल्मीक' (बाँबी) के रूपक में उसकी संगति बैठ गई, परन्तु स्थूल-जगत के आवरण को बाँबी के रूपक द्वारा प्रकट करने की परिपाटी च्यवन-कथा में भी मिलती है और सम्भवतः बहुत पुरानी है।

(१०) काव्य-प्रेरणा (क) प्राचेतस

मेरी समझ में आदि-कवि की इस कथा में, काव्य की मूल प्रेरक शक्ति के व्यक्तीकरण का आलङ्कारिक वर्णन है। इस मत की पुष्टि वाल्मीकि के दूसरे नाम 'प्राचेतस' से भी होती है—प्राचेतस का अर्थ है प्रचेतस का पुत्र और 'प्रचेतस' शब्द, जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया है, आनन्दमय कोश के ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होता है, जिसके लिये श्रीमद्भगवद्गीता में 'कविं पुराणं' आदि कहा गया है।

ऋग्वेद के अनुसार यह 'प्रचेतस' अद्वैत*, वीतरागदेव†, अमर्त्य‡ तथा मनोमय कोश के लिये वरेण्य तथा ध्येय× है, जिसको देवलोग (इन्द्रियादि की शक्तियाँ) द्वैत-रूप में मर्त्यो (क्षणभंगुर इन्द्रियार्थों) में ऐसे विभक्त कर लेते हैं, जैसे ब्रह्म के भाग को और इस अवस्था में उसके लिये 'असुर' कह कर सम्बोधित किया जाता है§। जो बात यहाँ प्रचेतस के लिये कही गई है, वही 'आनन्दमय' ब्रह्म के लिये भी कही जा सकती है और स्थूल-शरीर-रूपी पर्वत पर असुरत्व-प्रधान जीवन व्यतीत करते हुए वाल्मीक पर भी यही लागू होती है, क्योंकि वे प्राचेतस (प्रचेतस के पुत्र) तथा ब्राह्मण (यक्षकुलोत्पन्न) हैं। अतः प्राचेतस अथवा वाल्मीकि नामी आदि-कवि के आख्यान में यही अभिप्रेत समझना चाहिये कि ब्रह्म ही मूल प्रेरक शक्ति है और यह अजर, अमर तथा अव्यक्त होते हुए भी स्थूल-शरीर की नश्वर अभिव्यक्तियों में व्यक्त होता है। जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, अव्यक्त की अभिव्यक्ति प्रारम्भ होते ही ब्रह्म-माया, शक्तिमान्-शक्ति, कवि-वाक् आदि का द्वैत प्रारम्भ हो जाता है, इसीलिये 'प्रचेतस' की अभिव्यक्ति भी यहाँ द्वैत-पूर्ण बतलाई गई है।

(ख) स्फोटवाद

मूल-प्रेरक शक्ति की अभिव्यक्ति के विषय में यही मत आगे चलकर 'स्फोटवाद' के नाम से चला, जिसका उपयोग 'काव्यशास्त्र' में भी 'ध्वनि' के प्रसंग में किया गया है। हमारे मुख से जो वैखरी वाणी निकलती है, उसकी इकाई 'वाक्य' है, जो अनेक सद्रूप

भाषण-ध्वनियों अथवा वर्णों का आवरण धारण करके व्यक्त होता है (वाक्यपदीय, ७१-७३; व्या० म० पृ० २८-४९) वाक्य की उत्पत्ति अन्ततोगत्वा स्फोटात्मा से होती है, जो ध्वनि द्वारा व्यक्त होता है और नित्य तथा अभेद्य 'वाचक' (ध्वनिव्यंग्यः नित्यः अक्रमः) है। यथार्थ में स्फोट एक और अद्वैत है, परन्तु उपाधि (जिसको नाद, ध्वनि या आत्माभिव्यक्ति की शक्ति अथवा वाक् कहते हैं) के प्रभाव से अनेक भाषण ध्वनियों के रूप में व्यक्त होता प्रतीत होता* है; परन्तु वास्तव में अनेकता तो व्याकृता 'ध्वनि' में है, न कि स्फोटात्मा†, में। आत्मा में नाद की उत्पत्ति होती है, जिसे व्याकृता ध्वनि या केवल ध्वनि भी कहते हैं‡ जो बुद्धि, प्राण आदि में होती हुई स्थूल अङ्गों द्वारा व्यक्त होती है:—

> तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
> विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रकाशते।
> (वा० प० १, ११७)

वास्तविक विकार इसी नाद या वाक् में होता है और इसी से आवृत्त होने पर अविकारी स्फोटात्मा भी विकारी प्रतीत होता है। × अतः सूत-संहिता स्फोटात्मा को प्रणव या ओंकार के नाम से दो प्रकार

---

* यदन्तः शब्दतत्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम्।
तदाहुरपरे शब्द तस्यवाक्ये तथैकता।

† स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥ (वा० प० १, ७७)

‡ शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते। (वा० प० १-७०)

× स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेःकालः शब्दस्येत्युपचर्यते॥

का वतलाती है—एक पर या ब्रह्म रूप, दूसरा अपर या शब्द-रूप* । शब्द रूप स्फोट या प्रणव ही नाद या वाक् मे युक्त होता है और इच्छा, ज्ञान, क्रिया की दृष्टि से त्रिविध रूप में व्यक्त होता हुआ नाना वर्णों की सृष्टि करता है:—

> शृणोति य इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्र च शून्यदृक्
> येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥
> स्वधाम्नो ब्राह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः ।
> स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम् ॥
> तस्य ह्यासन् त्रयोवर्णा अकाराद्या भृगूद्वह
> धार्यन्ते यैस्त्रयो गुणानामर्थवृत्तयः ॥
> ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः ।
> अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शदीर्घह्रस्वादि लक्षणम् ॥

(ग) नाद, अनाहतनाद तथा महानाद

शैवागम के अनुसार सच्चिदानन्द शिव से शक्ति, शक्ति से कारणनाद तथा नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है (आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुः समुद्भवः), यहाँ पर नाद को 'महानाद' कहा जाता है और 'षट्प्रकरण' के अनुसार 'बिन्दु' को अनाहतनाद कहा जाता है (बिन्दुरेव समाख्यातो व्योमनाहतमित्यपि) इसी अनाहत नाद या बिन्दु से 'कार्य नाद' पैदा होता है (भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा

---

* नादस्य क्रमजन्मत्वात् न पूर्वो नापरश्च सः ।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते ॥

† परः परतरं ब्रह्मज्ञानानन्दादिलक्षणम् ।
प्रकर्षेण प्रणवः यस्मात् परं ब्रह्म स्वभावतः ॥
अपरः प्रणवः साक्षाच्छब्दस्य सुनिर्मलः ।
प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात्प्रणवः स्मृतः ॥

रवोऽभवत्), जो नाना वर्णों में गद्य-पद्यात्मक रूप में प्रकट हो जाता है (वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः)

कुछ शैवागमों में इसी बात को दूसरे ढँग से कहा गया है। उनके अनुसार शिव के साथ उसकी शक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है, इस शक्ति का नाम शान्त-शक्ति है जो सारी अभिव्यक्ति का निमित्त कारण है। शिव-शक्ति के संयुक्त तत्त्व से परिग्रह-शक्ति का जन्म होता है, जिसका नाम क्रिया-शक्ति भी है। वही बिन्दु है, जो अभिव्यक्ति का उपादान कारण है। यह शुद्ध और अशुद्ध-भेद से दो प्रकार का है; शुद्ध बिन्दु को 'महामाया' तथा अशुद्ध बिन्दु को 'माया' भी कहते हैं। शक्ति तथा बिन्दु के सम्बन्ध को विकल्प अथवा भेद-ज्ञान कहते हैं। इसी विकल्प द्वारा शिव, शुद्ध-बिन्दु को क्षुब्ध करता है, जिसमें शब्द तथा अर्थ की द्वैत-धारा चल पड़ती है, जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी अवस्थाओं में होकर नाना रूपों में प्रकट होती है। इसी प्रकार अशुद्ध-बिन्दु के क्षोभ से भी अभिव्यक्ति होती है।

(घ) प्रेरणा का उद्गम

अतः भारतीय परम्परा के अनुसार शब्दार्थात्मक या गद्यपद्यात्मक काव्य अन्य सभी प्रकार के काव्य (कला) कर्मों की भाँति, आत्मा की अभिव्यक्ति है, जिसको वह अपनी शक्ति या ध्वनि द्वारा अव्यक्त से व्यक्त, सूक्ष्म से स्थूल, प्राकृत से व्याकृत तथा एकवर्णा से अनेक-वर्णा करता है। उस शक्ति या माया का धर्म ही यह है कि वह अभिव्यञ्जना करे, आत्मा को अद्वैत से अनेक करके प्रकट करे। आजकल के युग में भी बेनिडिटो क्रोचे ने ऐसा ही मत प्रकट किया है; उसके अनुसार आत्मा की अभिव्यंजना ही को कविता कहते हैं।

आत्माभिव्यक्ति में वाह्य विभावों का भी प्रमुख स्थान है। वाह्य विभाव जब हमारी इन्द्रियों द्वारा हमारे अन्तर्जगत पर प्रभाव डालते

हैं, तो हमारे भीतर तदनुरूप संचारी तथा स्थायी भाव उत्पन्न होकर तीव्र होते हुए रसत्व को प्राप्त करते हैं जिससे ओत-प्रोत होकर हम व्याकुल हो उठते हैं; भवभूति ने रामचन्द्रजी की ऐसी ही अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है:—

> अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
> पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥

इस व्याकुलता को दूर किये बिना चैन नहीं मिल सकती, और इसको दूर करने का एकमात्र उपाय है अभिव्यक्ति—जलाप्लव भरे हुए तालाब की एकमात्र प्रतिक्रिया है उसमें से जल-निर्यात — पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया। इस 'प्रतिक्रिया' के बिना, अन्तर्लीन भावोद्रेक से हम राम की भाँति व्यथित होते हैं और मोह में पड़े रहते हैं —

> अन्तर्लीनस्य दुःखाग्नेरद्योद्दाम ज्वलिष्यतः ।
> उत्पीड इव धूमस्य मोहः प्रागावृणोति माम् ।

अतः बाह्य विभावों से विभावित यह भाव आत्मा की 'शक्ति' के द्वारा व्यक्त होता है, क्योंकि इसी शक्ति से स्थिर समाधिस्थ चित्त में अभिधेय भाव का स्फुरण होता है और उसको व्यक्त करने के लिये पद आदि विभावित होते हैं.—

> मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य
> अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥

इसीलिये मम्मट ने काव्यप्रकाश* में काव्य के कारणों में शक्ति को प्रमुख स्थान दिया है। यहाँ यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि जैसा

---

* शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

ऊपर कहा जा चुका है, यह शक्ति ही नाद, बिन्दु आदि अवस्थाओं में होती हुई शब्द तथा अर्थ दोनों का कारण है—इसी से क्रौञ्चवध वाल्मीक में वह 'अर्थ' उत्पन्न करता है, जो काव्य की आत्मा है और इसी से उस आत्मा को आवृत करने वाला नाना-वर्णात्मक कलेवर भी उत्पन्न होता है; शोक तथा श्लोक दोनों का कारण एक ही है; ध्वन्यालोक में अतः कहा गया है कि:—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थं शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

परन्तु, काव्य एक अरण्यरोदन नहीं है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसे श्रोता की अपेक्षा है; इसमें ऐसी ध्वनि है, जो प्रतिध्वनि प्राप्ति के लिये उपयुक्त स्थल चाहती है। चाहे कवि 'स्वान्तः सुखाय' ही क्यों न लिखे, उसमें वह सामर्थ्य तथा उद्देश्य निहित रहता है जिस से कवि का प्रेरक भाव श्रोता या पाठक के हृदय में भी उसी भाव को उत्पन्न कर देता है। श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री ने वाल्मीकि की कविता के विषय में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं:—

"In the second canto of Balakanda, it is unmistakably suggested, through the Soka = Sloka equation and through Valmik's own observation about his own Poetry in 1,2-18, that the true poetry is not made but is a beautiful and spontaneous emanation from the fountain of rasa and that the life and growth of genuine poetry depend upon a delightful synthesis of artist and the art-critic, of kavi and Sahrdaya, of charm and response, Accordng to this theory of poetry, kavya is not necessarily ornate poetry or court poetry, as some alien sanskritists would render the term, but it is genuine poetry."

अतः काव्य-प्रेरणा के उद्गम में, जहाँ आन्तरिक 'शक्ति' तथा बाह्य विभाव सहायक होते हैं, वहाँ श्रोता-सापेक्षता भी उसका एक मुख्य तत्व है। श्रोता-सापेक्षता को ही हम समाज-सापेक्षता कह सकते हैं। वाल्मीक का शोक श्लोकत्व को कभी प्राप्त न होता, यदि उनके पास ही क्रौञ्च-घातक व्याध तथा उनके शिष्यगण सुनने वाले न होते:—

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
> यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
> तस्यैवं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः।
> शोकार्त्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया॥
> चिन्तयन्स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान्मतिम्।
> शिष्यं चैवाब्रवीद्वाक्यमिदं स मुनिपुंगवः॥
> पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः।
> शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥
> शिष्यस्तु तस्य ब्रुवतो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम्।
> प्रतिजग्राह संहृष्टस्तस्य तुष्टोऽभवद्गुरुः॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि न केवल समाज ने उनकी अभिव्यक्ति को संभव बनाया, प्रत्युत उसके द्वारा उस अभिव्यक्ति के 'प्रतिग्रहण' से वाल्मीक को परितोष भी हुआ।

अब प्रश्न यह होता है कि विभावों से हम क्यों आकर्षित होते हैं और हमारी अभिव्यक्ति समाज-सापेक्ष क्यों है। इस प्रश्न के उत्तर के लिये हमें विभावों की तात्विक रचना पर विचार करना आवश्यक होगा। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की लोकोक्ति को भारतीय दर्शन का प्रामाणिक 'सूत्र' कहा जा सकता है। अतः पिण्डाण्ड के अनुसार ब्रह्माण्ड में भी यही पाँच कोश हैं और यहाँ भी 'विज्ञानमय' जगत के तथा सूक्ष्म 'अन्यदिव' से स्थूल-जगत के स्थूलत्व तथा अनेकत्व का विकास हुआ है। यह कहा जा चुका है कि ज्यों ज्यों स्थूलता (माया) का

आवरण बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों 'रस-स्वरूप' आत्मा परोक्ष होता जाता है और उसका रस माया-शबलित होकर सुख दुखादि अनेक रूपों में प्रकट होता जाता है। साथ ही माया इस परोक्ष आत्मा के सौन्दर्य या रस को शब्द-रूप-रस-गन्धस्पर्शात्मक जगत के रूप में व्यक्त करके, उसको भोगने के लिये श्रोत्रचक्षुरसनाघ्राणत्वगात्मक ऐन्द्रिय जगत का निर्माण करती है; इन दोनों जगतों में से एक में आकर्षण है, दूसरे में चाह; एक में काम है दूसरे में रति, एक में इच्छा है, दूसरे में तृप्ति। इस द्वैत-सिद्धान्त के द्वारा जहाँ एक को अनेक करके एक पूर्ण को अनेक अपूर्णों में विभक्त कर दिया जाता है, वहाँ इन अपूर्णों के भीतर अपने से बाहर पूर्णता को खोजने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है। इसके फलस्वरूप एक ओर हम जड़ बाह्य-जगत के विभावों से आकर्षित और प्रभावित होते हैं तो दूसरी ओर विश्व के चेतन अन्तर्जगत के साथ उस आकर्षण तथा प्रभाव का आस्वादन करना चाहते हैं। अतएव कवि जड़ चेतन के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से प्रभावित होकर जहाँ बाह्य जगत में खोई हुई पूर्णता देखता है, वहाँ उससे विभावित भाव की अभिव्यक्ति करके 'सहृदय' (समान हृदय) प्राणियों के साथ तादात्म्य स्थापित करके पूर्णत्व लाभ करना भी चाहता है। अतः किन्हीं अंशों में अडलर का यह कहना ठीक है कि कवितादि सारी कलायें अपूर्ण मनुष्य के पूर्ण होने के प्रयास की द्योतक हैं।

कामायनी का काव्यत्व

(१) भारतीय महाकाव्य

(क) परम्परागत लक्षण

हम देख चुके हैं कि जब काव्य 'साहित्य' हुआ, तब उसके क्षेत्र की सीमा भी संकुचित होगई। इस संकुचित अर्थ में भी श्रव्य काव्य के तीन भेद हैं—*गद्य, पद्य तथा मिश्र**। इनमें से पद्य काव्य भी तीन प्रकार के होते हैं (१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य तथा (३ मुक्तक काव्य। छठी शताब्दी में दण्डी ने अपने काव्यादर्श में महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार दिये हैं:—

> सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
> आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।
> इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
> चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्।
> नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
> मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।
> अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
> सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः।
> सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।
> काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृतिः।

अतः इसके अनुसार महाकाव्य ऐसे सर्गों में विभक्त होना चाहिये जो बहुत बड़े न हों। इसके आमुख में आशीर्वाद, देव-नमस्कार अथवा

* पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्—दंडी।

ग्रन्थ के कथावस्तु को सूचित करने वाले पद्य होने चाहिये। इसका कथानक इतिहास, कथा या अन्य सद्वृत्त पर आश्रित होना चाहिये। महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों पुरुषार्थों का उल्लेख होना चाहिये। उसका नायक चतुर और उदात्त हो। नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय तथा सूर्योदय के रूप में प्रकृति-वर्णन हो; उद्यान-विहार, जल-क्रीडा, मधु-पान आदि के रूप में उत्सव वर्णन हो; विप्रलम्भ, विवाह, कुमार-जन्म आदि के रूप में पारिवारिक जीवन का चित्रण हो तथा मन्त्रणा, दूतप्रयाण, युद्ध (आजि) नायकाभ्युदय आदि के रूप में सामाजिक अथवा राजनीतिक जीवन का चित्रण हो। महाकाव्य आकार में छोटा नहीं होना चाहिये। अलङ्कार, रस तथा भाव का होना आवश्यक है, क्योंकि 'लोकरञ्जन' उसका मुख्य लक्षण है। उसके सर्ग भिन्नवृत्त होने चाहिये और वह नाटकीय संधियों तथा श्रव्यत्व गुण से युक्त होना चाहिये। इस प्रकार का काव्य कल्पान्तरस्थायी होता है।

लगभग यही लक्षण अग्निपुराण (३३०) काव्यालङ्कार (१) सरस्वतीकण्ठाभरण (५) आदि में भी दिये गये हैं; परन्तु, सब से अधिक विस्तार के साथ उनका निरूपण पन्द्रहवीं शताब्दी में विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में किया है, जिसको तुलनात्मक अध्ययन के लिये यहाँ दिया जाता है:—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।

एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तु वनसागराः ।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्ग नाम तु ॥

अतः साहित्य-दर्पण के अनुसार महाकाव्य सर्गबन्ध होना चाहिये, जिसमें कम से कम आठ सर्ग हो, जो न बहुत छोटे और न अति बड़े ही हों। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द हो, जो केवल अन्त में बदलना चाहिये; कभी कभी एक सर्ग नाना छन्दों में भी हो सकता है। हरएक सर्ग के अन्त में भावी सर्ग के विषय की सूचना दे देनी चाहिये। नायक कोई सुर या कुलीन क्षत्रिय हो, जिसमें 'धीरोदात्त' के गुण हो, और धीरोदात्त* होने के लिये महासत्व, अतिगम्भीर, क्षमावान्, आत्मश्लाघाहीन, स्थिर तथा अहंकार को छिपाने वाला होना आवश्यक है। एक ही वंश के कुलीन राजा हों तो एक से अधिक नायक भी हो सकते हैं। प्रधान रस या तो शृङ्गार होना चाहिये या वीर अथवा शान्त; दूसरे रस केवल सहायक मात्र होने चाहिये। कथावस्तु के संगठन में नाटकीय संधियों का प्रयोग आवश्यक है। कथानक या ऐतिहासिक हो या उसमें किसी सज्जन का चरित होना चाहिये।

---

* महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः स्थिरोनिगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः (द० रू० ३)

महाकाव्य का लक्ष्य चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति है और उसके प्रारम्भ में ईश-वन्दना, आशीर्वाद अथवा कथा-वस्तु के निर्देश के पश्चात् कभी कभी सज्जन-प्रशंसा तथा असज्जन-निन्दा भी होती है। यथा-अवसर इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, सायंकाल, अन्धकार, दिवस, प्रभात, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतुओं, वनों, सागरों संभोग, विप्रलंभ, ऋषियों, स्वर्ग, नगरों, यज्ञों, युद्धों, आक्रमणों, विवाहोत्सवों, मंत्रणा, कुमार-जन्मादि विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिये। इसका नामकरण कवि के नाम पर अथवा कथानक, नायक या अन्य पात्र पर होना चाहिये, परन्तु प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्यविषय के आधार पर होना चाहिये।

(ख) लक्षणों का अर्थ

विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित महाकाव्य-लक्षणों का मूल्य आँकते हुए हमें यह याद रखना चाहिये कि इन लक्षणों में कुछ बातें ऐसी हैं, जो निश्चित तथा अनिवार्य हैं और जिनके विषय में आचार्य लोग एकमत हैं, जबकि कुछ बातें ऐसी हैं, जो अनिश्चित तथा गौण हैं और जिनके विषय में आचार्य लोग एकमत नहीं हैं। पहले प्रकार में निम्नलिखित हैं:—

(१) नायक का धतुरोदात्तत्व।

(२) चतुर्वर्ग-प्राप्ति का लक्ष्य।

(३) रस की उपस्थिति।

(४) कथानक का ऐतिहासिक आधार या सदाश्रयत्व

और दूसरे प्रकार में निम्नलिखित लक्षण आते हैं:—

(१) सर्गों की रचना या संख्या* ।

(२) वर्ण्य-विषयों की सूची ।

(३) काव्य या सर्गों का नामकरण ।

निस्संदेह पहले प्रकार के लक्षणों में साहित्य का भारतीय आदर्श निहित है, जब कि दूसरे में उस आदर्श के व्यक्तीकरण की प्रणाली। पहले का सम्बन्ध महाकाव्य की आत्मा से है, जिसका स्वरूप समाज की संबुद्ध तथा ऊर्जस्वित प्रज्ञा द्वारा निर्धारित किया जाता है; दूसरे का सम्बन्ध महाकाव्य के शरीर से है, जिसकी रचना व्यक्ति-विशेषों (कवियों) द्वारा होती है। 'आदर्श' है युगयुगान्तस्थायिनी शाश्वत और सुसंस्कृत सामाजिक 'शक्ति' का आदेश, जिसका पालन अनिवार्य है; काव्य-रचना कवियों द्वारा उसका व्यक्तिगत 'आज्ञा पालन' है, जिसको प्रत्येक कवि अपनी शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास के अनुसार सम्पादित करने में स्वतन्त्र है। यही कारण है कि रामायण, महाभारत, *कुमारसंभव*, *रघुवंश*, *बुद्ध-चरित*, *सौन्दरानन्द*, *शिशुपाल वध*, *किरातार्जुनीय* आदि जहाँ प्रथम प्रकार के लक्षणों में सहमत हैं, पूर्णतया एकमत हैं, वहाँ दूसरे प्रकार के लक्षणों में वे एक दूसरे से अत्यधिक विभिन्न हैं— किसी में एक नायक है, तो किसी में अनेक; रामायण में सात काण्ड हैं, तो महाभारत में अठारह पर्व, रघुवंश में १६, बुद्धचरित में २८ तथा रत्नाकर के 'हरविजय' में ५० सर्ग हैं। इसी प्रकार सर्ग-रचना तथा वर्ण्य-विषयों के चयन में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। अतः

---

*कहीं सर्गों की संख्या अथवा उसके श्लोकों की गिनती का उल्लेख बिल्कुल नहीं है, साहित्यदर्पण में सर्ग-संख्या न्यूनतम आठ है; परन्तु प्रत्येक सर्ग का विस्तार निश्चित नहीं है, ईशान-संहिता में न्यूनतम सर्ग संख्या के अतिरिक्त अधिकतम संख्या भी दी गई है (अष्टसर्गान्न तु न्यूनं त्रिंशत्सर्गान्न नाधिकम्) और पद्य-संख्या भी ३० से २०० तक निश्चित करदी है।

लक्षणों के प्रथम प्रकार को महाकाव्य के स्थायी तत्व कह सकते है और दूसरे को अस्थायी।

अस्थायी-तत्वों का विश्लेषण करने से हमें इनकी अनेकता या विभिन्नता में भी एक ध्रुव एकता मिल सकती है, जिसके द्वारा भारतीय महाकाव्य की 'आत्मा' के लिये शरीर-रचना की जाती है। महाकाव्य के वर्ण्य-विषयों की सूची को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि वर्ण्य-विषयों का चुनाव मानव-जीवन के पूर्ण क्षेत्र से किया जाता है, जिसको निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) व्यक्तिगत साधना।

(२) मानव का प्रकृति से सम्बन्ध।

(३) मानव का परिवार से सम्बन्ध।

(४) मानव का समाज से सम्बन्ध।

आचार्यों द्वारा बतलाये गये उक्त लक्षणों में वर्ण्य या प्रतिपाद्य विषयों को मानव-जीवन के इन चार भागों में इस प्रकार बाँटा जा सकता है:—

(१) चतुर्वर्ग प्राप्ति।

(२) संध्या, सूर्य, चन्द्र, रजनी, प्रदोष, ऋतु, पर्वत, वन सागरादि।

(३) सभोग, विप्रलम्भ, विवाहोत्सव, कुमार जन्म आदि।

(४) आक्रमण, युद्ध, मंत्रणा, ऋषि मुनि, यज्ञ आदि।

इससे प्रकट है कि भारतीय महाकाव्य व्यक्ति के जीवन का अध्ययन प्रकृति, परिवार और समाज के स्वाभाविक संनिकर्ष में करना चाहता है; उसके अनुसार मानव-जीवन का पूर्ण चित्र इस व्यापक तथा

विस्तृत पृष्ठभूमि के बिना नहीं मिल सकता, क्योंकि मनुष्य की इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों की जो नानात्वमयी अभिव्यक्ति 'जीवन' के नाम से पुकारी जाती है वह इसी पृष्ठभूमि द्वारा विभावित एवं उद्भावित होती है। अपनी इच्छाशक्ति से उद्भूत 'काम' द्वारा मनुष्य जिन 'सामग्रियों तथा सेवाओं' की माँग उत्पन्न करता है, उन्हीं का उत्पादन वह अपनी क्रियाशक्ति से उद्भूत 'अर्थ' द्वारा करके उस माँग की पूर्ति करता है। माँग-पूर्ति के इस व्यापार में सदसद्विवेक तथा आत्मानात्मभेद-बुद्धि होना अत्यावश्यक है, अन्यथा स्वार्थवाद, इन्द्रिय-लोलुपता तथा भ्रष्टाचार का बोलबाला होने का डर रहता है। इसी कमी को पूरा करने के लिये ज्ञानशक्ति से उद्भूत 'धर्म' की आवश्यकता पड़ती है, धर्म ही इच्छा तथा क्रिया, काम तथा अर्थ के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए सदाचार और अध्यात्मवाद का सहारा देता है और अन्त में मानव को इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया तीनों से ऊपर उठाकर 'मोक्ष' द्वारा न केवल जड़, अनात्म तथा असत् से मानवात्मा को अनासक्त करता है, अपितु उसे तुच्छ स्वार्थों से भी छुटकारा दिलवाता है, जिसके फलस्वरूप वह समाज में संयमी कर्मयोगी होकर कर्तव्यकर्मों को करता हुआ अनासक्ति-योग का जीता जागता उदाहरण हो जाता है। इस प्रकार चतुर्वर्ग-समन्वित मानव-जीवन के भारतीय आदर्श की पूर्णता दिखाने के लिये आवश्यक है कि मानव की सम्पूर्ण लीला-भूमि का अध्ययन और चित्रण किया जाय। यह लीला-भूमि प्रकृति, परिवार तथा समाज की समवेत भूमि है, इसी को उसकी विविधता तथा विभिन्नता के साथ चित्रित करने के लिये भारतीय महाकाव्य ने अपना वर्ण्य विषय बनाया है। इसी लीला भूमि से सामग्री लेकर भारतीय महाकाव्य की शरीर रचना हुई है।

इस महाकाव्य-शरीर का आत्मा वही रस है, जिसका वर्णन पीछे हो चुका है, परन्तु यहाँ वह केवल व्यक्ति की ही वस्तु न होकर समष्टि की भी है। 'रसो वै सः' के चिरन्तन सत्य का जो साक्षात्कार

योगी अपनी समाधि में करता है और साधारण कवि अपनी कविता के परिमित क्षेत्र में करना या कराना चाहता है, उसी को महाकवि प्रकृति, परिवार एवं समाज के विस्तृत परिधि में फैलाकर तथा जीवन की पूर्णता में व्याप्त करके करना तथा कराना चाहता है। महाकाव्य रस का 'समाजीकरण' करना चाहता है; वह व्यक्ति को न केवल समाज एवं प्रकृति के प्रशस्त-प्राङ्गण में रस-साधना करने के लिये बाध्य करता है, अपितु वह इस साधना में सारे समाज को रत करने के लिये भी प्रयत्नशील है। जिस प्रकार प्राचीन 'काव्य' में नाट्य का लक्ष्य वेद-व्यवहार को *सार्ववर्णिक और सार्वजनिक बनाना था*, उसी प्रकार 'साहित्य' में महाकाव्य का ध्येय है। अतः महाकाव्य में मुक्तकादि काव्यों की भाँति केवल पृथक पृथक चित्रों या परिस्थितियों द्वारा ही रसानुभूति विभावित नहीं होती; उसकी निष्पत्ति में मानव-चरित के चित्रण तथा उसकी पृष्ठभूमि में रहनेवाली प्रकृति, परिवार तथा समाज *की त्रिकुटी से भी सहायता ली जाती* ।

जैसा कि प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है, रसानुभूति मनोरञ्जन-मात्र नहीं है, अतः महाकाव्य में मानव-चरित का चित्रण केवल 'अर्थ-काम' समन्वित होने में काम नहीं चल सकता; यदि काव्यरस का सौन्दर्य सत्यत्व एवं शिवत्व से युक्त रखना है, तो अर्थ-कामपरता की स्वच्छन्द रँगरलियों पर धर्म का अङ्कुश बिठाने की आवश्यकता है और उन्हें अनासक्त 'भोगों' के रूप में बदलकर, मोक्ष-साधना में साधन रूप में प्रयुक्त करना है। इसीलिये महाकाव्य के स्थायी तत्वों में रस के साथ साथ चतुर्वर्ग-प्राप्ति का विधान किया गया है। नायक का धीरोदात्तत्व तथा कथानक का सदाश्रयत्व भी रस के 'असतो मा सत गमय' के आदर्श को स्थापित करने के लिये रक्खा गया है; अन्यथा साधारण मनोरञ्जन तो भाँडों की भँड़ैती से भी हो सकता है और मनुष्य की हीन भावनाओं तथा मनोवेगों को उभाड़ने वाले वेश्यालयों, मदिरालयों तथा नग्नस्वरूपों के वर्णन से भी सम्भव

है। परन्तु, इससे समाज की प्रगति नहीं दुर्गति होगी, मानव देवत्व की ओर न जाकर असुरत्व की ओर जायेगा, वह सौन्दर्य का रसिक न रह कर रक्तपात एवं नरदाह का रसिक हो जायेगा। अर्थ-काम-परायण 'प्रगतिवाद' को भी मानना पड़ेगा कि मानव-जीवन में अर्थ-काम की प्रधानता होते हुए भी, यदि उसकी मानवता को जीवित रखना है तो इन दोनों को 'साध्य' के स्थान से उतारकर केवल साधन-पद देना पड़ेगा। हमारे काव्य में रस की अलौकिकता तथा जीवन का आदर्शवाद इसी ओर प्रयत्नशील है।

(ग). लौकिक और अलौकिक का समन्वय

अर्थ-काम का धर्म मोक्ष के साथ संयोग कराके तथा अलौकिक रस को मानव-जीवन से संयुक्त करके भारतीय महाकाव्य ने लौकिक और अलौकिक के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में कथानक की ऐतिहासिकता तथा नायक के क्षत्रियत्व एवं देवत्व ने भी बहुत सहायता पहुँचाई है। इतिहास-प्रसिद्ध कथानक के नायक के प्रति जनता के हृदयों में यों ही विशेष राग होता है, और यदि वह क्षत्रिय* (देश के राजनीतिक जीवन का प्राण) हुआ तो वह राग एक मोहनीमंत्र बन जाता है। नायक के साथ पाठकों का यह रागात्मक सम्बन्ध जहाँ रस-परिपाक में शीघ्रता तथा सरलता उत्पन्न कर देता है और रसानुभूति में आवश्यक ममत्व या तादात्म्य ला देता है, वहाँ उसका धारोदात्तत्व एवं देवत्व रस के शिवत्व एवं सत्यत्व को निश्चित कर देता है जिसके बिना रस की पूर्णता और परिपक्वता तो दूर, उसकी रसता भी सम्भव नहीं। इसीलिये भारतीय महाकाव्य

* प्राचीन भारत के समाज में क्षत्रिय का वही स्थान था जो आज राजनीतिक नेताओं का है। वस्तुतः 'क्षत्रिय' शब्द को राजनीतिक नेता का पर्यायवाची ही समझना चाहिये, न कि किसी जाति विशेष का मनुष्य।

लौकिक चरित को यथार्थ बनाकर भी उसकी लोकोत्तरता पर दृष्टि रखता है, मानवत्व में निहित देवत्व को व्यक्त और विकसित करने में दत्तचित्त रहता ।

कथानक के भीतर लौकिक और अलौकिक का समन्वय समाविष्ट करने के लिये भारतीय महाकाव्यों में प्रायः ऐतिहासिक कथानक को ऐसे परिवर्तित और परिवर्द्धित कर लिया गया है कि उसमें ऐतिहासिक सत्य के साथ-साथ आध्यात्मिक सत्य भी दिखाया जा सकता है। यही कारण है कि वाल्मीकि के राम मनुष्य होते हुए भी पूर्ण ब्रह्म हैं अथवा उनकी पूर्ण मनुष्यता ही ब्रह्मता है । इस विषय में निम्नलिखित श्लोक बड़े महत्व का है:—

> वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
> वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना ॥

इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का अन्वय दो प्रकार किया जाता है— 'वेदवेद्ये परे पुंसि दशरथात्मजे जाते' अथवा 'दशरथात्मजे वेदवेद्ये परे पुंसि जाते ।' इसका अर्थ है कि जब वेदवेद्य परब्रह्म ने दशरथपुत्र राम के रूप में पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त किया, अथवा जब राम ने पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त करके वेदवेद्यत्व (ब्रह्मत्व) को प्राप्त किया, तब प्राचेतस (वाल्मीकि) द्वारा रामायण के रूप में वेद ने साक्षात् रूप ग्रहण किया । अतः श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री ने लिखा है:—

The author of the Ramayana blends in a happy way two ideas—that *God fulfills himself in the best man*, Shri Ramachadra, and that man, as Dasharatha's son, rises to his full stature by pulling up his Manhood to the level of Brahmanhood. The author of the Ramayana would interpret the upanisadic teaching "पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः" as equivalent to "मनुष्यान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः"

यही बात हमें न्यूनाधिक रूप में अन्य राम काव्यों में भी मिलती है, परन्तु इसका जितना अच्छा निर्वाह हमारे तुलसीदासजी ने किया है उतना अन्यत्र नहीं मिलता। वे अपने रामचरित मानस के प्रारम्भ ही में स्पष्ट कर देते हैं कि उनकी सीता उद्भवस्थितिसंहारकारिणी रामवल्लभा हैं और राम वे हरि हैं जो जगत के 'अशेष कारण' हैं और जिनकी माया के वशीभूत ब्रह्मा आदि देवताओं और असुरों सहित अखिल विश्व प्रवृत हो रहा है —

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥
यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवा सुरा
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

इन्हीं परब्रह्म राम का अवतार दशरथनन्दन रामचन्द्र के रूप में होता है, अतः वे ब्रह्म होते हुए भी मनुष्य हैं और मनुष्य की सारी मर्यादाओं के भीतर रहते हुए लीला करते हैं। साथ ही वे मनुष्य होते हुए भी ब्रह्म हैं क्योंकि उनकी मनुष्यता लोकोत्तर कल्याणाभिनिवेश में ही अपनी पूर्णता देखती है। यही बात थोड़े हेर-फेर के साथ कृष्ण-काव्यों और विशेषकर महाभारत तथा भागवत के कृष्ण के विषय में कही जा सकती है, 'कुमारसम्भव' श्रीकण्ठचरित आदि शिव-कथा को लेकर चलने वाले काव्य आध्यात्मिक और भौतिक, अलौकिक तथा लौकिक के समन्वय के एक ऐसे ही उदाहरण है। इसी समन्वयवाद के कारण जहाँ इनमें ऐतिहासिकता की खोज की गई है, वहाँ इनमें आध्यात्मिक रूपक की भी कमी नहीं है।

यह ... की बहुत बड़ा विशेषता
रही है, और ... और शिव के कथानकों

में होती है। ऐसी बात नहीं है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, धर्मशर्माभ्युदय आदि जैन महाकाव्यों से भी यही बात प्रमाणित होती है और अश्वघोष तो अपने सौन्दरानन्द में स्पष्ट लिख ही देता है कि इस ग्रन्थ के लिखने में उसका एकमात्र उद्देश्य निर्वाण-विषयक सत्य को एक आकर्षक आवरण के भीतर रखना है, जिससे लोग उससे आकर्षित होकर उधर जायें और बुद्धत्व को प्राप्त करें। अतः बुद्धचरित में सिद्धार्थ गौतम की कथा के भीतर आत्मा का वह बोधमय स्वरूप भी मिल सकता है जो अनेक संघर्षों के पश्चात् उसे प्राप्त होता है और जिसके विषय में गौतम बुद्ध की भाँति ही कहा जा सकता है कि:—

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयो सुतः ॥

भारतीय महाकाव्य-परम्परा में इसी प्रकार की कृतियाँ श्रेष्ठ समझी जाती थीं क्योंकि वे *अध्यात्म-प्रधान संस्कृति के अनुरूप आदर्शों* की सृष्टि करती थीं। यही कारण है कि साधारण कथा के आधार पर रचित नैषध-चरित तक को यही रूप ग्रहण करना पड़ा और जिन कवियों ने महाकाव्य के इस मर्म को नहीं समझा उनकी रचनायें ऐतिहासिक कथानक पर आश्रित होने पर भी विक्रमाङ्कदेवचरित तथा नवसहसाङ्कचरित के समान पण्डित-मण्डली द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत होते होते विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गईं। भौतिकवादी विचारधारा के विद्वानों* को इस पर शोक हो सकता है, परन्तु अध्यात्मवादी भारत को इससे किंचित् भी खेद नहीं, क्योंकि हमारे इतिहास की कल्पना इस काल-कवलित विश्व के परिधि तक ही सीमित नहीं है; उसमें तो जीवात्मा की उस लीला का भी समावेश हो सकता है, जो हमारे इस काल से भी परे उस काल की परिधि में आती है, जिसको महाकाल कहा जा सकता है।

---

* ब्यूलर, विक्रमां० पृ० १; *कीथ, हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर*, पृ० १५२।

के बीच होने वाले व्यापक देव-दानव-द्वन्द्व को भी व्यक्त किया गया है और उसमें नर की विजय द्वारा ही नर समष्टि में व्याप्त नारायण की विजय भी दिखलाई गई है। अतः ऐतिहासिक कथानक में पर्याप्त हेर-फेर करनी पड़ी। नारायण की शक्ति जहाँ व्यष्टि में पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा समान रूप से भोगी जाती है, वहाँ समष्टि में पञ्च जनों द्वारा, अतएव इस शक्ति की प्रतीक नारायणी (द्रौपदी) को पाँच पाण्डवों की पत्नी होना पड़ा। इसी प्रकार दुर्योधन के सौ भाई होना और उन सब का नाम 'दुर्' उपसर्ग-युक्त होना, भीष्म का शर-शय्या शयन, कर्ण वध या जयद्रथ-वध आदि में अलौकिक घटनायें तथा अन्त में हिमालय के लिये महाप्रस्थान आदि ऐसी बातें हैं, जो किन्हीं आध्यात्मिक तथ्यों की प्रतीक होती हैं, जिनमें से कइयों का आधार तो स्पष्टतः ऋग्वेद है।

जो बात यहाँ महाभारत के लिये कही गई है, वही न्यूनाधिक रूप में रामायण तथा ऐसे ही अन्य महाकाव्यों के लिये भी कही जा सकती है। परन्तु, जहाँ इन महाकाव्यों में ऐतिहासिक कथानक को आधार बनाकर आध्यात्मिक तत्व-निरूपण किया गया है, वहाँ ऐसे महाकाव्य भी हैं, जिनमें आध्यात्मिक तथ्यों को ही मानवीय जीवन का जामा पहनाया गया है। इस प्रकार के महाकाव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कुमार-सम्भव है। कुमार-सम्भव हिमालय पर्वत के वर्णन से प्रारम्भ होता है। पर्वत का अर्थ है पर्ववान्, पहाड़ में अनेक पर्व होते हैं, इसीलिये उसे पर्वत कहते हैं। पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में भी अनेक पर्व हैं, अतः वैदिक साहित्य की भाँति कुमार-सम्भव में पर्वत इन दोनों के प्रतीक के रूप में आया है। इस पर्वत की कन्या पार्वती वही शक्ति है, जो पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में एकसी व्याप्त है और जिसको वैदिक साहित्य में 'हैमवती उमा' या केवल उमा कहा गया है। यह पर्वत बड़ा भारी प्रजापति है, जिसके राज्य में अनेक देवकर्मों द्वारा यज्ञ विस्तार पाता है, परन्तु असुरत्व के प्रतीक तारक आदि से आक्रान्त

होने पर इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती है। इस तारक का वध उक्त उमा तथा अजरामर शिव ब्रह्म के संयोग से उत्पन्न कुमार ही कर सकता है। अतः इस दिव्य-संयोग तथा कुमार-जन्म को लक्ष्य रखकर ही कुमार-सम्भव लिखा गया है। इस लक्ष्य की पूर्ति कवि ने न केवल व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में अपितु दाम्पत्य-जीवन तथा सामाजिक जीवन में भी दिखाने का प्रयत्न किया है।

(ङ) देव-द्वंद्वचित्रण का उपयोग

देव-दानव-द्वंद्व का चित्रण भारतीय महाकाव्य में एक विशेष महत्त्व रखता है। यह चित्रण वास्तव में भारतीय काव्य का यथार्थवाद है, क्योंकि इसके द्वारा जीवन में होने वाले सुख-दुख, जय पराजय, लाभ-हानि, उत्थान-पतन आदि के द्वंद्वों का चित्रण हो जाता है। परन्तु यह वह यथार्थवाद नहीं जो दुःख, पराजय, हानि, पतन आदि को श्लाघ्य पद प्रदान करे और पाठकों के मन में निराशा, क्षोभ या असन्तोष की आँधी उत्पन्न करके उनको पथ-भ्रष्ट करे। यह वह यथार्थवाद है, जो जन-जन के मन में रहने वाली सुख और प्रगति की इच्छा को जागृत रखता है और विघ्न-नाश या संकट-मुक्ति की प्रबल आशा को बनाये रखता है क्योंकि इसके बिना उस देव-विजय की आशा नहीं जो व्यष्टि और समष्टि में सर्वत्र विकासोन्मुखी और कल्याण-विधायिनी शक्तियों की प्रतीक है।

देव-विजय के व्यापक चित्रण में ब्रह्मानन्द व्यक्तिगत साधना के दुर्गम और संकीर्ण स्थल से निकलकर सहस्रधार हो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बरसता हुआ प्रतीत होता है और आबाल-वृद्ध के आचरण में अभिव्यक्त होकर सदाचार और संयम के रूप में समष्टि के जीवन में आह्लाद और उल्लास की वृद्धि करता है। यही रस का समाजीकरण है। स्थितप्रज्ञ योगी आत्मा के जिस सौन्दर्यपुंज की अनुभूति समाधि में तथा अभिव्यक्ति अपने व्यक्तिगत व्यवहार में करता है गीति-

काव्यकार उसी की फुलझड़ियों को कुछ नीचे स्तर पर ग्रहण करके अपनी गीतियों को सजीव करता है, और महाकाव्यकार उसी के विश्व-व्यित महारश्मि-जाल को चित्रित कर व्यष्टियों के संश्लिष्ट समष्टि-जीवन को सत, सरस तथा सुन्दर बनाता है। गीति-काव्य की सफलता भाव घनत्व में है, जब कि महाकाव्य की भाव विस्तार में। यद्यपि महाकाव्य में गीति-काव्य की भाँति पद पद में काव्यत्व नहीं होता, परन्तु उसकी समष्टि में जो काव्यत्व होता है और उसके विस्तार, व्यापकत्व तथा विशालत्व का जो प्रभाव पड़ता है वह अन्ततोगत्वा अधिक तीव्र तथा स्थायी होता है। यही कारण है कि महाकाव्य में समष्टि-साधना तथा युग निर्माण की जो सामग्री तथा शक्ति होती है, वह गीति-काव्य में नहीं। रामायण, महाभारत, रामचरित मानस आदि की सफलता तथा स्थायी लोक-प्रियता का यही रहस्य है।

(२) कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्यात्मा)

(क) कामायनी में रस

भारतीय महाकाव्य का जो रूप यहाँ स्थिर किया गया है, उसके अनुसार कामायनी के महाकाव्यत्व का मूल्य आँकने के लिये उसके आत्मा और शरीर दोनों की परीक्षा करनी होगी। जैसा पहले कहा जा चुका है, अन्य काव्यों की भाँति महाकाव्य की आत्मा भी रस ही है और यह रस वास्तव में एक ही है जो अनेक विभिन्न रसों, भावों, सञ्चारियों आदि में नानारूप होकर रहता है। शृङ्गार प्रकाशादि के मतानुसार यह मूल रस शृङ्गार है, जब कि भवभूति कहते हैं कि एक करुण रस ही निमित्त भेद से पृथक पृथक रूप उसी प्रकार धारण कर लेता है, जिस प्रकार आवर्त, बुद्बुद, तरङ्ग आदि विकारों को प्राप्त होने वाला जल —

> एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
> भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।

आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान्,
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥

कामायनी से इन दोनों मतों की पुष्टि होती है— प्रारम्भ से देखने पर दूसरे की और अन्त से देखने पर पहले की।

भाव-विलास

कामायनी के प्रारम्भ में करुणार्द्र मनु चिंता-कातर वदन लिये हुए एकान्त में बैठे हैं और 'एक मर्म-वेदना करुणा-विकल कहानी सी निकल रही है', मानों वह कह रही है कि—

इस करुणा-कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?

जल-प्लावन के विनाश, विध्वंस और प्रलय द्वारा विभावित करुण-भाव, *'आँसू'* की *भाषा में, मनु-हृदय, में 'स्मृतियों की एक बस्ती'* बसा देता है और अतीत वैभव-विलास, प्रताप-प्रभुत्व, कीर्ति-दीप्ति की निरन्तर याद से उसके 'मस्तक में जो घनीभूत पीड़ा छाई' हुई है वह राम के करुण-रस के समान पुटपाक-तुल्य भीतर भीतर ही व्यथित कर रही है:—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः
पुटपाक-प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ।

अन्त में 'पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया । शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते' के अनुसार वह प्रलाप करने लगता है; करुण-भाव चिंता, अनुताप, परिताप, पश्चाताप, घृणा, क्रोध, भय, विषाद

निराशा आदि में परिवर्तित होता है (१, १०-३२) और मनु अत्यन्त करुणीय, व्यथित एवं अवसन्न होकर मृत्यु की शीतल गोद का आह्वान करता है —

मृत्यु ! अरी चिरनिद्रे ! तेरा
अङ्क हिमानी सा शीतल ।

दूसरे सर्ग में मनु की दशा बदली, रौद्र जलप्लावन तथा करुण विध्वंस के हटते ही 'व्याधि की सूत्र धारिणी' चिंता ने अपना रूप बदलकर मनु के इस कथन को सार्थक किया —

बुद्धि, मनीषा, मति आशा, चिंता
तेरे हैं कितने नाम ।

और स्पृहणीय आशा का कलेवर धारण कर उनके 'सदय हृदय' में 'मधुर स्वप्न सी झिलमिल' हो व्यक्त हुई और उसने देखा —

जीवन ! जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह
× × ×
मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में !
मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में ।

फिर क्या था ! मनु कर्म निरत हुए, पाकयज्ञ करने लगे; हृदय में सहानुभूति उमड़ी और परिचित अपरिचित के लिये यज्ञशिष्ट अन्न को दूर रखने लगे। साथ ही मनन चिंतन से नई समस्यायें आ खड़ी कीं; नई चिन्तायें जगीं, एक अभाव का अनुभव हुआ और 'मधुर प्राकृतिक भूख समान अनादि' वासना उत्पन्न हुई तथा मनु के हृदय में एक टीस, एक व्याकुलता और एक अधीर चाहने प्रवेश

किया। उसका 'मन संवेदन से चोट खाकर विकल हो उठा' और वह कातर हो कहने लगा:—

> कब तक और अकेले ? कह दो
> हे मेरे जीवन बोलो।

श्रद्धा के आते ही मनु उसे 'लुटे से निरखने लगे'; प्रथम परिचय के पश्चात् गृहपति और अतिथि रूप में रहते हुए उन दोनों में 'जीवन वन के मधुमय वसन्त' काम ने प्रवेश किया और वे दोनों एक दूसरे के प्रति एक हिचकिचाहट-भरे आकर्षण का अनुभव करने लगे:—

> था समर्पण में ग्रहण का एक सुनिहित भाव।
> थी प्रगति, पर अड़ा रहता था सदा अटकाव।
> चल रहा था विजन-पथ पर मधुर जीवन-खेल;
> दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।

यह आकर्षण बढ़ता गया और मनु के हृदय में एक 'नई इच्छा' उस 'अतिथि का संकेत' लेकर आने लगी—वह श्रद्धा का 'भूखा' हो गया। अतः उसे श्रद्धा तथा पशु के बीच प्रेम का आदान-प्रदान भी नहीं रुचा और उसका हृदय घृणा भरं की वेदना, व्यथा, ईर्ष्या द्वेष का क्रीड़ास्थल बन गया:—

> किन्तु यह क्या ? एक तीखी घूँट, हिचकी आह !
> कौन देता है हृदय में वेदना-मय डाह ?

क्योंकि वह प्रेम का प्रतिदान चाहता है और चाहता है अपने प्रेम-पात्र पर एकाधिपत्य:—

> विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान्।
> सभी मेरी हैं, सभी करती रहें प्रतिदान।

इस अवस्था में श्रद्धा का पास आना और अनमने मनु के प्रति सहानुभूति, स्नेह तथा सत्कार प्रदर्शित करना रति-भाव को व्यक्त होने का अवसर प्रदान करता है—मनु मधीर 'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ' कहता हुआ अधीर, अशांत, उद्भ्रान्त तथा उन्मथ (४-६२) हो जाता है।—

> छूटतीं चिनगारियाँ उत्तेजना उद्भ्रान्त,
> धधकती ज्वाला मधुर, था वक्ष विकल अशान्त।
> वात-चक्र समान कुछ था बाँधता आवेश,
> धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था लेश।

प्रेम की इस परिस्थिति के समय श्रद्धा का हृदय भी उसी प्रकार आलोड़ित है और वह लज्जा, पुलक, रोमाञ्च, भ्रू-निक्षेप, उल्लास आदि से युक्त होकर रत्यनुभावों की साक्षात् मूर्ति हो जाती है:—

> झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारता के भार।
> लद गई पाकर पुरुष का मर्म-मय उपचार।
> और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव,
> आज जैसे हँस रहा भीतर बढ़ाता चाव।
> मधुर व्रीड़ा-मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास,
> हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास।
> गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
> भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
> स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
> खिला पुलक कदंब सा था भरा गद्गद् बोल।

अन्त में सम्भोग-शृङ्गार की अन्तिम बाधा लज्जा को भी 'कुचल' दिया जाता है और रक्त खौलाने वाले 'व्याकुल चुम्बन' से शीतल भाप धधक उठता है (७-१३६)।

संभोग-शृङ्गार के इस रति-भाव को निमित्त-भेद से बदलते देर नहीं लगती। मनु के यज्ञ में 'रुधिर के छींटे, अस्थि-खण्ड की माला, पशु की कातर-वाणी' श्रद्धा के मन में जुगुप्सा, मोह, ग्लानि, आवेग, चिन्ता, घृणा आदि उत्पन्न करते हैं (११६–१२१)। इसके कारण रूठी हुई श्रद्धा को मनाने में मान-विप्रलम्भ का प्रारम्भ हो जाता है। उधर गर्भिणी श्रद्धा में आकर्षण का अभाव अतृप्त-मनु के हृदय में एक आकुलता उत्पन्न कर देता है; श्रद्धा का शिशु-स्नेह दृप्त और स्वार्थी मनु में ईर्ष्या प्रदीप्त कर देता है:—

यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार।

फलतः वह श्रद्धा को छोड़ चला जाता है और श्रद्धा करुण-विप्रलम्भ में शङ्का, औत्सुक्य, स्मृति, चिन्ता, उद्वेग, उन्माद, स्वप्न, निर्वेद आदि से पीड़ित होती (१७१–१८६) है, परन्तु बच्चे के भोले प्रश्न और उसकी किलकारी श्रद्धा के विपण्ण हृदय में वात्सल्य-रस की प्रतिष्ठा कर देते हैं:—

'माँ'—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज-धूसर बाहें आकर लिपट गई
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।

प्रवास-काल में ईर्ष्या-हेतुक विप्रलम्भ के स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप मनु का रति-भाव श्रद्धा से हटकर इड़ा पर जमता है और वह अन्त में 'अतिचार' के रूप में व्यक्त होता है, जिससे इड़ा के मन में भय उत्पन्न होने से भयानक रस का आभास आ जाता है;

आलिङ्गन! फिर भय का क्रन्दन! वसुधा जैसे काँप उठी।
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी॥

मनु की इस कुचेष्टा से अपनी रानी का मान भङ्ग होते देखकर प्रजा क्रुद्ध हुई और मनु के दर्प-पूर्ण कठोर वचनों से उसका क्रोध और उद्दीप्त होता गया, फलतः अमर्ष, उत्साह, उग्रता आदि संचारियों से पुष्ट होता हुआ रौद्र रस प्रकट होता है—

> अन्तरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी।
>
> × × ×
>
> उधर गगन में क्षुब्ध हुईं सब देव-शक्तियाँ क्रोधभरी,
> रुद्र-नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी।
> धूमकेतु सा चला रुद्र-नाराच भयङ्कर,
> लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयङ्कर।
> अन्तरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी,
> सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।
> और गिरीं मनु पर, मुमूर्षु वे गिरे वहीं पर,
> रक्त-नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर।

इस अनिष्ट-प्राप्ति पर शोक, क्षोभ, ग्लानि, जुगुप्सा, शङ्का आदि से प्रवाहित मनु-हृदय में निर्वेद की भावना अङ्कुरित होकर पनपती है (२१८–२१९); श्रद्धा-मिलन से तुष्टि, सांत्वना तथा विश्वास पाकर शान्त-रस की भूमिका प्रारम्भ होती है और असफलताओं से मनु के मन में तीव्र विराग जागृत होकर निर्वेद को उद्दीप्त करता है:—

> सोच रहे थे "जीवन सुख है?
> ना, यह विकट पहेली है,
> भाग अरे मनु! इन्द्रजाल से
> कितनी व्यथा न झेली है?

और फिर शान्ति की चाह उसे (निर्वेद को) स्थायित्व की ओर ढकेलती है; श्रद्धा के पुनर्मिलन से, मनु के हृदय में उसके प्रति जो रति-भाव था वह शुद्ध भक्ति-भाव में बदल जाता है:—

तुम देवि ! आह कितनी उदार,
यह मातृ-मूर्ति है निर्विकार;
हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती;
कल्याणमयी वाणी कहती,

तब श्रद्धा "तब चलो जहाँ पर शान्ति प्रात" कहकर मनु को संबल प्रदान करती हुई उसे 'समरस अखण्ड आनन्द' की झलक दिखाती है, जिससे मनु के हृदय में आनन्द-तत्व के प्रति तीव्र-तम उत्कण्ठा जागरित होती है:—

देखा मनु ने नर्तित नटेश,
हतचेत पुकार उठे विशेष;
'यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल;
सब पाप-पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल।

यहाँ पर तत्व-ज्ञान-जनित उस भाव की झलक मिलती है, जिसे मम्मट* ने स्थायी निर्वेद तथा नाट्यशास्त्रकार ने शम कहा है और जो हर्ष, मति, स्मृति, निर्वेद आदि संचारियों द्वारा पुष्ट होता हुआ त्रिपुर-रहस्य आदि के दर्शन से उद्भूत अद्भुत-रस की विभूति पाकर परिपाक को प्राप्त हो जाता है और सुख-दुख, ईर्ष्या-द्वेषादि द्वंद्वों के स्थान पर एक समरसता-पूर्ण 'अखण्ड आनन्द' का साम्राज्य हो जाता है:—

सुख सहचर दुःख विदूषक
परिहास-पूर्ण कर अभिनय;

---

* स्थायी स्यान्निर्वेद एव तत्वज्ञानाद्यदि;
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ।

सब की विस्मृति के पट में
छिप बैठा था अब निर्भय।

× × ×

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

साहित्य-दर्पणकार ने शान्त रस की इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि इसमें सुख-दुःख ईर्ष्या-द्वेष, चिन्ता, इच्छा आदि नहीं रहते, केवल शम की प्रधानता रहती है:—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा;
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।

एक रस

इस शान्त रस से हम आनन्दमयकोश की उस रसानुभूति की कल्पना कर सकते हैं, जिसे "अद्वैतं सुखदुःखयोः" कहा गया है, यह पूर्ण, अखण्ड, एक आनन्द है, जिसमें सुख-दुख दोनों एकाकार होकर द्वंद्वातीत अव्याकृत आस्वाद रूप में हो जाते हैं। शान्त-रस की अवस्था में सुख-दुख का द्वैत आरम्भ हो जाता है परन्तु वह व्याकृत एवं संयुक्त होकर रहता है:—

छिपटे सोते थे मन में
सुख-दुख दोनों ही ऐसे,
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुञ्ज में जैसे।

यह 'विज्ञानमय कोश' की अनुभूति है; यहाँ से नीचे उतर कर मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय कोषों में यही अनुभूति सुख और दुःख,

शृङ्गार और करुण दो सुदूर और पृथक किनारों के बीच समान बहती हुई चलती हैं; इस सरिता का जो भाग (सुख या दुःख) से जितना निकट या दूर होता है, उस ... उतना ही अधिक या कम रङ्ग चढ़ा हुआ होता है। वीभत्स, रौद्र और भयानक करुण के प्रभाव-क्षेत्र में हैं, तो वीर, हास्य और अद्भुत शृङ्गार के प्रभाव-क्षेत्र में। अतः जहाँ यह कहना ठीक है कि मनु का दुःख निमित्तभेद से बदलता हुआ शृङ्गारादि का रूप धारण करता है, वहाँ यह भी ठीक है कि जलप्लावन-पूर्व का शृङ्गार निमित्तभेद से मनु-हृदय में चिन्ता, आशा, ईर्ष्या निर्वेद, विस्मय, भय आदि में बदल जाता है। वास्तव में ये दोनों किनारे शान्त-रस में आकर मिल जाते हैं; सुख-दुख की अन्तिम परिणति निर्वेद में होती है।

(ख) रस का समाजीकरण

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महाकाव्य में, एक प्रकार से, रस का समाजीकरण होता है; और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही कथानक का सदाश्रयत्व या ऐतिहासिकत्व, नायक का धतुरोदात्तत्व तथा चतुर्वर्ग-प्राप्ति अपेक्षित माने गये हैं। यों तो कथानक और नायक के विषय में आगे विस्तारपूर्वक कहा गया है, परन्तु जहाँ तक इन बातों का सम्बन्ध रस से है वहाँ तक कुछ विवेचन यहाँ भी आवश्यक है।

कथानक और नायक

कामायनी के कथानक की सृष्टि मनु को केन्द्र मानकर हुई है; यह मनु न केवल शान्ति और व्यवस्था के विधायक इतिहास-प्रसिद्ध राजर्षि मनु हैं, अपितु मननशील मानवता के प्रतीक मनुष्य-सामान्य मनु भी हैं। अतः प्रथम सर्ग का चिन्तन और प्रलाप जहाँ मनु की ऐतिहासिकता के कारण अधिक करुण और प्रभावोत्पादक हो जाता है, वहाँ दूसरी दृष्टि से वह अधिक स्वाभाविक, सुगम एवं हृदय...

हो जाता है। इतिहास के कारण मनु से हमारा रागात्मक सम्बन्ध पहले से ही है; अतः उनके करुण क्रन्दन पर हमारा हृदय सहानुभूति से द्रवीभूत हो जाता है। परन्तु जब हम देखते हैं कि मनु कोई और नहीं केवल 'अक्षरसमयकोश' में फँसा हुआ जीव है, जो 'जल-माया' के आवरण से अपनी सारी देव विभूति को खो बैठा है, तो हम उससे जिस तादात्म्य का अनुभव करते हैं, वह अधिक यथार्थ होता है और हम 'वैराग्य शतक' की भाषा में न बोलकर सूर अथवा तुलसी के भक्ति-कातर स्वर में बोल पड़ते हैं।

कथानक का सदाशयत्व

कामायनी के कथानक का सदाशयत्व श्रद्धा के चरित्र में निहित है। स्त्री-रूप में वह 'दया, माया, ममता' की मूर्ति है। किलाताकुलि के हिंसावाद के चक्कर में पड़कर मनु जब पथभ्रष्ट होता है, तो भी श्रद्धा अचल रहती है। पशु-बलि के वीभत्स दृश्य से क्षुब्ध होकर, वह प्राणि-मात्र के लिये समवेदना अनुभव करती हुई तथा मनु के स्वार्थ वाद पर भर्त्सना करती हुई कहती है:

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत करलो
सब को सुखी बनाओ।
सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे;
इतर प्राणियों की पीड़ा लख,
अपना मुँह मोड़ोगे।

इसी प्रकार अहेरी मनु की हिंसामयी वृत्तियों को देखकर भी, वह 'निरीह' पशुओं के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करती हुई पाठकों की करुणा को विस्तार प्रदान करती है—

चमड़े उनके श्रावरण रहें
ऊनों से मेरा चले काम;
वे जीवित हों माँसल बनकर
हम अमृत दुहें वे दुग्ध धाम।
वे द्रोह न करने के स्थल हैं,
जो पाले जा सकते सहेतु;
पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं
तो भव जलनिधि में बनें सेतु।"

इस प्रकार श्रद्धा की सर्वमंगला करुणामयी मूर्ति को देखकर, हम उसके साथ रोने और हँसने लगते हैं। वासना का कीड़ा मनु जब श्रद्धा को छोड़ता है, तो वह एक साधारण स्त्री को नहीं छोड़ता, वह प्राणिमात्र की स्नेहमयी माता को छोड़ता है; अतः पाठक उसे क्षमा नहीं करते और जब मनु का यह कलुष इड़ा के प्रति 'अतिचार' रूप में प्रकट होता है, तो सारस्वतनगर की प्रजा तथा प्रकृति के साथ ही वे भी 'रुद्र-हुङ्कार' कर उठते हैं। मुमुर्षु मनु के लिये हमारा हृदय द्रवित होता है, परन्तु इसका कारण मनु का चरित्र नहीं, श्रद्धा की सहानुभूति, करुणा और कातरता है, जो उसकी वाणी से प्रवाहित हो रही है:—

अरे बता दो मुझे दया कर
कहाँ प्रवासी है मेरा ?
× × ×
कैसे पाऊँगी उसको मैं
कोई आकर कह देरे।

उसके देवोपम सौजन्य, त्याग तथा औदार्य्य से यहाँ हम अत्यन्त प्रभावित होते हैं और इड़ा-रूप में सारस्वत-प्रदेश और मनु के साथ ही उसके मातृरूप के सामने सभक्ति अपना मस्तक झुका देते हैं:—

सम्बे फिर क्यों इतना विराग,

(इड़ा)

तुम देवि ! आह कितनी उदार,

यह मातृ-मूर्ति है निर्विकार।

(मनु)

'चिन्ता' सर्ग में मनु ने जिज्ञासा-भरे नेत्रों से प्रकृति को देखकर, जिस व्यापक 'रहस्य' के प्रति कुतूहल प्रकट किया था, वही श्रद्धा-संवलित निर्विरण मनु के मन में विस्मय का संचार करता हुआ त्रिपुर-रहस्य का उद्घाटन कराके अद्भुत-रस का सुविस्तृत आलंबन जुटाता है और अन्त में नर्तित नटेश के दर्शन करके एक व्यापक आनन्द में परिवर्तित हो जाता है

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित,

वह चेतन पुरुष पुरातन;

निज शक्ति तरंगायित था,

आनन्द-अम्बु निधि शोभन।

× × ×

चिति का विराट वपु मङ्गल

यह सत्य सतत चिर सुन्दर

यहाँ एक स्मरणीय बात यह है कि इस व्यापक आनन्दानुभूति को भी प्रसादजी ने एकान्त व्यक्तिगत जीवन की घटना नहीं रक्खा; सारे सारस्वत प्रदेश के यात्रियों के साथ-साथ ही हम भी इस अनुभूति की ओर प्रगतिशील होते हैं:—

चलता था धीरे धीरे

वह एक यात्रियों का दल;

सरिता के रम्य पुलिन में

गिरि-पथ से ले निज संबल।

रस-समाजीकरण का रहस्य

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कथानक का सदाश्रयत्व ही रस के समाजीकरण का मूल कारण है। श्रद्धा का सत्त्व और देवत्व न केवल रसों के लिये व्यापक आलम्बन उपस्थिति करने में सफल होते हैं अपितु स्वयं रसानुभूति उसके कारण ही व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत हो जाती है। परन्तु इस रस-विस्तार की वास्तविक लक्ष्य-पूर्ति तभी होती है, जब व्यष्टि का 'स्व' समष्टि का 'स्व' हो जावे और व्यक्ति कह उठेः—

> मैं की मेरी चेतनता
> सब को ही स्पर्श किये सी;
> सब भिन्न परिस्थितियों की
> है मादक घूँट पिये सी।

इस ध्येय की *यथार्थ पूर्ति केवल बहिर्मुखी दृष्टि से सम्भव नहीं।* यह तभी सम्भव हो सकती है, जब सीता राजा राम की सती रानी न रहकर 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणी' शक्ति हो जायें और श्रद्धा 'जगत मंगल-कामना कामायनी' अथवा महाशक्ति जगदम्बा हो जायें, जिसमें हम देखें—

> वह विश्व चेतना पुलकित
> थी पूर्ण काम की प्रतिमा;
> जैसे गम्भीर महाहृद,
> हो भरा विमल जल-महिमा।

कामायनी के इस रूप को हम जितना ही अधिक समझेंगे, रसानुभूति की ओर हम उतना ही अग्रसर होंगे।

(ग) चतुर्वर्ग-प्राप्ति

चतुर्वर्गविधान से महाकाव्य का रस-निरूपण अधिक यथार्थ और स्पष्ट हो जाता है। अतः कामायनी में चतुर्वर्गप्राप्ति का जो स्वरूप है, उसे समझ लेना आवश्यक है।

काम-अर्थ

चतुर्वर्ग में काम सर्व-प्रमुख है। साधारण अर्थ में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की एक व्याकुल प्यास को ही काम* कहते हैं, जो श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण इन्द्रियों के सहारे अपने पंचशरों का प्रहार करता है:—

पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ
यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा।

हमारे स्थूल-शरीर में यही 'भूख' नाना प्रकार की इच्छाओं और वासनाओं के रूप में प्रकट होती है, जिनकी तृप्ति के लिये स्पर्शेन्द्रिय अर्थों को एकत्र करना ही प्रायः हमारा ध्येय हो जाता है। निर्वेद से पूर्व मनु इसी प्रकार के काम का दास है।

जो इसी कामोपासना को अपना साध्य मान लेते हैं, वे दुःख भोगते हैं। 'अनादि वासना' के रूप में जागकर इसी काम ने मनु के एकाकी जीवन को अशान्त बनाया; इसी ने मनु के दाम्पत्य-जीवन को उजाड़ा और उसको ईर्ष्या-वासना का शिकार बनाकर इधर-उधर भटकाया। इसी के कारण सारस्वत प्रदेश का सामाजिक जीवन घोर संघर्ष से युक्त होकर छिन्न-भिन्न हुआ और इसी की उपासना करते-करते देव जाति 'विलासिता के मद में' बहती हुई प्रलयकारी जल-प्लावन में निमग्न होगई। इसके परिणाम का चित्र† 'काम के अभिशाप' के रूप में कामायनी में ही इस प्रकार दिया गया है:—

"अब तुम्हारा प्रजातन्त्र शाप से भरा हो। यह मानव-प्रजा की नई सृष्टि द्वयता में लगी निरन्तर वर्णों की सृष्टि करती रहे और

---

* श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः

† सुमन, पृ० १६६।

अनजान समस्यायें रचकर अपना ही विनाश-साधन करती रहे, अनन्त कलह-कोलाहल चले, एकता नष्ट हो; भेद बढ़े, अभिलाषित वस्तु मिलनी तो दूर, अनिच्छित दुःख मिले। अपने दिल की जड़ता हृदयों पर परदा डाल दे; एक-दूसरे को हम पहचान न सकें, विश्व गिरता-पड़ता चले, सब कुछ पास भरा हो, तब भी सन्तोष सदा दूर रहेगा यह संकुचित दृष्टि दुःख देगी।

'कितनी उमङ्गें अनवरत उठेंगी। अभिलाषाओं के शैल-शृङ्ग आँसू के बादलों से चुम्बित हों, जीवन-नद हाहाकार से भरा हो, उसमें पीड़ा की तरंगें उठती हों; लालसा-भरे यौवन के दिन पतझड़ से बीत जायँ; सदा नये सन्देह पैदा होते रहेंगे और उनमें संतप्त भीत स्व-जनों का विरोध काली रात बनकर फैलेगा, श्यामला प्रकृति-लक्ष्मी दारिद्र्य से संवलित हो विलखती रहेगी। नर-तृष्णा की ज्वाला का पतङ्ग बनकर दुःख के बादल में इन्द्र-धनुष-सा कितने रङ्ग बदलेगा।

"प्रेम पवित्र न रह जाये; कल्याण का रहस्य स्वार्थों से आवृत होकर भीत हो रहे; आकांक्षा रूपी सागर की सीमा सदा निराशा का सूना क्षितिज हो। तुम अपने को सैकड़ों टुकड़ों में बाँटकर सब राग-विराग करो। मस्तिष्क हृदय के विरुद्ध हो; दोनों में सद्भाव न हो। जब मस्तिष्क एक जगह चलने को कहे तो विकल हृदय कहीं दूसरी जगह चला जाय। सारा वर्तमान रोकर बीत जाय और अतीत एक सुन्दर सपना बन जाय। कभी हार हो, कभी जीत। असीम अमोघ शक्ति संकुचित हो जाय। भेद-भावों से भरी भक्ति जीवन की बाधाओं से भरे मार्ग पर ले जाय; कभी अपूर्ण अहङ्कार में आसक्ति हो जाय, व्यापकता भाग्य की प्रेरणा बनकर अपनी सीमा में बन्द हो जाय; सर्वज्ञ-ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बनकर कुछ छन्द रचे; सम्पूर्ण कर्तृत्व नश्वर छाया सी बनकर आवे; नित्यता पल-पल में विभाजित हो और तुम यह न समझ सको कि बुराई से शुभ इच्छा की शक्ति बड़ी है।

सारा जीवन युद्ध बन जाय और मन की उस याग की वर्षा में सभी शुद्ध भाव बह जायें। अपनी ही शङ्काओं से व्याकुल तुम अपने ही विरुद्ध होकर, अपने को ढके रहो और अपना बनावटी रूप दिखलाओ पृथ्वी में समतल पर दम्भ का ऊँचा स्तूप चलता-फिरता दिखाई दे।"

धर्म-मोक्ष

यह है कामार्थपरता को साध्य रूप में देखने का परिणाम; परन्तु इसी को यदि हम साधन रूप में मानकर चलें और काम-तृप्ति कर्तव्य-बुद्धि या धर्म-भावना से करें, तो हमारा काम 'धर्माविरुद्ध काम' हो जाय, जिससे शम, दम आदि की प्राप्ति होकर मोक्ष-मार्ग भी मिल सके। श्रद्धा का काम ऐसा ही काम है।

श्रद्धा के हृदय में भी वासना जगती है और वह भी मनु से आकृष्ट होकर आत्म-समर्पण करती है, परन्तु केवल वासना-तृप्ति के उद्देश्य से नहीं, अपितु दया, माया, ममता, मधुरिमा और विश्वास प्रदान करने के लिये:—

> दया, माया, ममता लो आज,
> मधुरिमा लो, अगाध विश्वास
> हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ,
> तुम्हारे लिये खुला है पास।

श्रद्धा को 'यह अतृप्ति अधीर मन का क्षोभयुत उन्माद' एक परिचित अनुभूति है, परन्तु वह उसको संयम के अंकुश से वश में भी रखती है, जिससे उसका उपयोग 'हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य' को व्यक्त करने के लिये ही होता है। अतएव श्रद्धा का हृदय विश्व-प्रेम से ओत-प्रोत है और वह पशु पक्षियों के दुःख से भी दयार्द्र हो उठती है। ईर्ष्या-द्वेष तो वह जानती ही नहीं और न वह दम्भ, द्रोह, क्रोध से परिचित है। उसका हृदय ऐसे शुद्ध-प्रेम से आप्लावित है, जो अपराधी मनु के लिये

भी निरन्तर रहता है और मनु की अपराधिनी इड़ा का भी उसी प्रकार स्वागत करता है। इस प्रकार का आचरण धर्ममय कामार्थपरता का परिणाम है; ऐसे आचरण में आत्मा की उस दिव्य सत्ता की अभिव्यक्ति होती है, जिसे 'रसो वै सः' कहा गया है। यह आचरण का काव्य है, जिसका रसास्वादन करके आस्वादक अपना चरित्र बनाते हैं; इसी काव्य द्वारा 'रस' का ठोस से ठोस समाजीकरण होता है, जिससे समाज का नैतिक धरातल ऊँचा होकर वह देवत्व की ओर अग्रसर होता है—यथार्थ रसत्व ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त करने लगता है। इसी काम द्वारा काम का वह सूक्ष्म रूप प्राप्त होता है, जो 'विज्ञानमय' कोश में अनुभव किया जाता है और जिसको वेद में 'मनसः रेतः' कहा गया है।

अतः काम के इसी रूप द्वारा श्रद्धा न केवल अपने को अविचलित रखती है अपितु मनु के मनस्ताप को भी दूर करके उसे शान्ति, सुख तथा समरसता का सन्मार्ग दिखलाती है और 'अखण्ड आनन्द' का आस्वादन' कराके मुनि-दुर्लभ मोक्ष दिलाती है। यही कारण है कि सन्त-साहित्य और आगम-ग्रन्थों में काम को एक बड़ी आध्यात्मिक शक्ति* भी माना है और भगवद्गीता में वह भगवान् का रूप भी माना गया है:—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ। (७, ११)

(घ) कामायनी में रूपक

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कामायनी में भौतिक और आध्यात्मिक, लौकिक तथा अलौकिक का सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिये ऐतिहासिक कथानक में रूपक का भी संमिश्रण कर लिया गया है। अतः संक्षेप† में उसको व्यक्त कर देना आवश्यक है।

---

* काम मिलावै राम को जो कोइ जाणै राखि (कबीर) 'कामकलाविलास'

† इस विषय सम्बन्धी दर्शन को विस्तार पूर्वक जानने के लिये देखिये लेखक-कृत 'वैदिक-दर्शन'।

यह रूपक प्रसादजी की अपनी कृति नहीं, वास्तव में यह वैदिक कथानक में ही उपस्थित है। पिण्डाण्ड में अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द ये पञ्चकोश ही पाँच मुख्य पर्व हैं जिनमें से प्रत्येक अन्य उपपर्वों में विभक्त है, इन्हीं पर्वों के कारण पिण्डाण्ड पर्वत (पर्ववत्) कहलाता है। इस पर्वत की सर्वोच्च चोटी आनन्दमय कोश है जहाँ शिव-शक्ति, माया-ब्रह्म या प्रकृति-पुरुष अद्वैतावस्था में रहते हैं—

चिरमिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अम्बु निधि-शोभन।

विज्ञानमय कोश में द्वैत प्रकट होता है—शक्ति (माया) शिव (ब्रह्म) से पृथक् व्यक्त हो जाती है और इस रूप में उसकी दो अवस्थायें हैं—एक समनी शक्ति और दूसरी उन्मनी शक्ति। उन्मनी शक्ति अगतिमय है, समनी शक्ति गतिमय; पहली में मनोमय से लेकर अन्नमय तक का समस्त नानात्व बीज रूप में बन्द है, जब कि दूसरी में वह अङ्कुरित होकर नीचे के कोशों में पल्लवित और पुष्पित होता है। पहली को अचलमाया कहते हैं, तो दूसरी को चल माया, अतः रूपकों में प्रथम को हिम तथा द्वितीय को जल कहा गया है, यद्यपि वस्तुत. व एक ही हैं—

नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता,
—कहो उसे जड़ या चेतन।

मनोमय कोश से लेकर अन्नमय तक मन रूप में स्थित मननशील जीव मनु कहलाता है। इन्द्रिय-शक्तियाँ ही देव हैं, मनु (मन)

स्वयं एक देव है। ये देव जितने ही अधिक स्वच्छन्द, स्वेच्छाचारी और विलासी होते जाते हैं, अन्नमय कोश के मांसल भोगों की ओर इनकी प्रवृति जितनी अधिक होती जाती है, ये उतने ही जल-माया से आवृत होते जाते हैं, यहाँ तक कि अन्त में जल की ऐसी प्रालेय बाढ़ आती है कि सब डूब जाते हैं:—

वे सब डूबे, डूबा उनका
विभव, बन गया पारावार।

मत्स्य (मत्स्यावतार में विष्णु) की कृपा से केवल मनु (जीव) इस ध्वंस से बच जाता है जो अवसाद और विषाद को अपनाता हुआ पर्वत के उत्तुङ्ग शिखर (मनोमय कोश) पर बैठकर आँसू बहाता है:—

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह;
एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह।

व्यष्टि-साधना

मननशील जीव की शक्ति के दो रूप हैं—एक हृदय-तत्व, दूसरा मूर्द्धा-तत्व। कामायनी के रूपक में एक को श्रद्धा और दूसरी को इड़ा कहा गया है, एक 'हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य' खोजती है, दूसरी स्वयं 'त्रिगुण तरंगमयी' बुद्धि है। विपण्ण और विरक्त मनु (जीव) का त्राण हृदय-तत्व द्वारा ही हो सकता है। अतः श्रद्धा आकर मनु को 'तप नहीं, जीवन सत्य' का पाठ पढ़ाकर फिर कर्म में प्रवृत्त करती है। परन्तु, कर्मक्षेत्र में आसुरी-शक्तियों के संयोग से जीव (मनु) पुनः पतन की ओर जाने लगता है। वह मोहान्ध होकर अपनी श्रद्धा-शक्ति का परित्याग करता है और इड़ा (बुद्धि तत्व) से नाता जोड़ता है, आसुरी सुखवाद को अपनाने के पश्चात् जीव को बुद्धिवादी जड़वाद

ही भाता है परन्तु इसका परिणाम भयङ्कर ही होता है – जिन आसुरी शक्तियों (रूपक में किलाताकुली) से प्रभावित होकर जीव (मनु) श्रद्धा का परित्याग तथा जड़वाद का ग्रहण करता है, उन्हीं के नेतृत्व में उस पर वज्रपात होता है और वह मुमुर्षु हो जाता है। अब सारे जड़वादी बुद्धिवाद से उसका विश्वास उठ जाता है और अवसन्न तथा निर्विण्ण हुआ वह पुनः श्रद्धा (हृदय-तत्व) की शरण आता है।

श्रद्धा उसे पर्वत (पिण्डाण्ड) की चोटियों पर (कोशों, चक्रों आदि) पर चढ़ाती हैं। 'मनोमय' कोश की चोटी तक उसे इच्छा, ज्ञान और क्रिया के पृथक्-पृथक् क्षेत्र मालूम पड़ते हैं—

> ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
> इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
> एक दूसरे से न मिल सके
> यह विडम्बना है जीवन की।

तत्वतः ये तीनों तत्त्व श्रद्धा* ही के अङ्ग हैं; अतः 'विज्ञानमय' कोश में पहुंचकर ये तीनों एकाकार होकर सारे नानात्व को एकत्व में लाने का प्रयत्न करते हैं:—

> महाज्योति रेखा सी बनकर
> श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
> वे सम्बद्ध हुये फिर सहसा
> जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।
> नीचे ऊपर लचकीली वह
> विषम वायु में धधक रही सी;

* तु० क० एतस्मान्मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः, तेनैष पूर्णः—तस्य श्रद्धा एव शिरः ऋतं दक्षिणपक्षः सत्यमुत्तरपक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।

महाशून्य में ज्वाल सुनहली,
सब को कहती "नहीं-नहीं" सी।

'आनन्दमय' में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण-शरीर की सारी अनेकता एकता में परिवर्तित हो जाती है और शक्ति-शक्तिमान्, शिव शक्ति, प्रकृति पुरुष, श्रद्धा-मनु संयुक्त रूप में हो जाते हैं और अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है —

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

यही 'आनन्दमय' कोश हिमगिरि (पिण्डाण्ड) की चोटी कैलाश है, जहाँ अखण्ड शान्ति और आनन्द का वातावरण है और द्वैतभाव का नाम तक नहीं है —

मनु ने कुछ कुछ मुसक्याकर,
कैलास ओर दिखलाया,
बोले देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमी हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।

---

* तु० क० एतस्माद्विज्ञानमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः तेनैष पूर्णः । प्रियमस्य शिरः आमोदो दक्षिण पक्ष । प्रमोदः उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा ।

समष्टि-साधना

कामायनी रूपक में सारस्वत-नगर 'जल-माया' आवृत समष्टि-चेतना का प्रतीक है, जो सामाजिक क्षेत्र में कर्म के रूप में प्रगट होती है। इस क्षेत्र में मनु का सुखवाद और इड़ा का बुद्धिवाद मिलकर भौतिक समृद्धि की चरम सीमा तक पहुँचने पर भी विषाद और निराशा, संघर्ष और अशान्ति को ही प्राप्त करते हैं; सच्ची शान्ति और सफलता के लिये 'श्रद्धामय' मानव को साथ लेकर ही इड़ा का बुद्धिवाद प्रयत्नशील होता है। सारस्वतनगर के निवासियों की कैलाश-यात्रा इस प्रयत्न को भले प्रकार दिखलाती है। 'श्रद्धामय' मानव के साथ से इड़ा का बुद्धिवाद धर्म-विहित हो जाता है; अतः धर्म के प्रतिनिधि-स्वरूप वृषभ पर सुखोपभोग की प्रतिमा सोमलता लादकर मानव 'अखण्ड आनन्द' की खोज में सफल होता है:—

> था सोमलता से आवृत
> वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि;
>
> × × ×
>
> सारस्वत नगर निवासी
> हम आये यात्रा करने,
> यह व्यर्थ रिक्त जीवन घट
> पीयूष सलिल से भरने।

धर्म की परिणति इसी अखण्ड आनन्द में होती है; इसी को पाकर वह चिरमुक्त होता है:—

> इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को
> उत्सर्ग करेंगे जाकर,
> चिर मुक्त रहे यह निर्भय
> स्वच्छन्द सदा सुख पाकर।

(३) कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्य-शरीर)

(क) वहिरंग

कामायनी के काव्य शरीर का निर्माण जिस कथानक के आधार पर किया गया है उसका विश्लेषण इसी पुस्तक में अन्यत्र किया गया है। सारे कथानक की प्रेरक शक्ति श्रद्धा कामायनी है, अतः उसी के नाम पर इस महाकाव्य का नामकरण हुआ है। इसमें कुल पन्द्रह सर्ग हैं, जिनका नामकरण उनके वर्ण्य विषयों पर हुआ है। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द है, जो आद्योपान्त चलता है और पुराने महाकाव्यों की भाँति अन्त में बदलता नहीं, हाँ एकवार निर्वेद सर्ग में अवश्य बीच में एक भिन्न छन्द आ गया है, जो काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाता है और वस्तु-विन्यास को यथार्थता प्रदान करता है।

प्रत्येक सर्ग में एक छन्द रखते हुए भी कवि विविधता के मोह को नहीं छोड़ सका है और उसने यथासम्भव उसी छन्द के विभिन्न रूपों का प्रयोग किया है। अतः कर्म सर्ग में २८ मात्राओं के जिस छन्द का प्रयोग हुआ है उसके अन्त में कभी एक गुरु है, कभी दो और कभी तीन.—

> कर्म सूत्र सकेत सदृश थी
>
> सोमलता तब मनु की (एक)
>
> जीवन की अविराम साधना
>
> भर उत्साह खड़ी थी (दो)
>
> ठीक यही है सत्य ! यही है,
>
> उन्नति सुख की सीढ़ी (तीन)

इसी प्रकार की विविधता चिन्ता और आशा आदि सर्गों में भी दिखाई पड़ती है, जहाँ पिङ्गल शास्त्र के नियमों को निभाते हुए और कहीं उनकी अवहेलना करके भी विविधता उत्पन्न की गई है:—

प्रतीत होते हैं। प्रसादजी ने हिन्दी को संस्कृत का सौष्ठव और गांभीर्य्य प्रदान किया है, परन्तु कामायनी में 'प्रिय-प्रवास' की संस्कृतात्मकता को नहीं अपनाया गया है। यहाँ प्रायः छोटे छोटे तत्सम शब्द स्वाभाविक रूप में प्रसाद-गुण के पोषक होकर आये हैं और जहाँ वे अस्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, वहाँ अस्पष्टता का कारण विषय-गांभीर्य्य, लाक्षणिक प्रयोग, रहस्य-भावना अथवा वैदिक वातावरण उत्पन्न करने का प्रयत्न है, भाषा की क्लिष्टता नहीं। कहीं कहीं तो भाषा अत्यन्त सरल होकर बोलचाल की भाषा बन जाती है:—

(क) थके हुए थे दुखी बटोही
वे दोनों ही माँ-बेटे—
खोज रहे थे भूले मनु को,
जो घायल होकर लेटे।

(ख) अरे मेखला ही आया हूँ,
जो आवेगा सहलेंगे।

(ग) हार बैठे जीवन का दाव
जीतते जिसको मर कर जीव।

लेखक ने समास-बहुल भाषा को न अपनाते हुए भी भाषा में अपूर्व समास-शक्ति दिखलाई है। यों तो सर्वत्र ही शब्दाडम्बर तथा चमत्कार-प्रदर्शन का पूर्णतया अभाव है और शब्दों के प्रयोग में अत्यन्त संयम तथा मितव्ययता से काम लिया गया है, परन्तु कहीं कहीं तो समास-शक्ति का प्रयोग चरम सीमा तक पहुँच गया है। उदाहरण के लिये कामायनी के दो प्रारम्भिक पद ले लीजिये। शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार महाकाव्य के आमुख में आशीर्वाद, नमस्क्रिया या वस्तुनिर्देश होना चाहिये। जहाँ एक ओर ये दोनों पद प्रबन्ध की इतिवृत्तात्मकता तथा वर्णनात्मकता की पूर्ति करते हैं, वहाँ वे आमुख के लक्षणों पर भी ठीक उतरते हैं। जैसा कि रूपक-विवेचन में कह चुके हैं, इन पदों का एक

पुरुष' तथा 'एक तत्त्व की प्रधानता' आनन्द सर्ग के उस 'चिरमिलित प्रकृति से पुलकित चेतन पुरुष पुरातन' की ओर संकेत है जो आगमों में 'अग्निदाहकयोरिव' अभिन्न शिव-शक्ति बतलाये गये हैं। इस प्रकार परम सत्ता के उल्लेख से अथ या ओङ्कार के समान नमस्क्रिया का काम निकल जाता है। साथ ही 'भीगे नयनों' तथा 'प्रलय-प्रवाह' के उल्लेख से अन्नमय-कोशस्थ विपन्न जीव की दुरवस्था तथा जड़ चेतन की एकता के संकेत द्वारा उसके साध्य को बतलाकर वस्तु-निर्देश भी कर दिया है।

(ख) वस्तु-विस्तार की नाटकीयता

कोई भी प्रबन्ध-काव्य नाटकीय तत्वों के बिना सफल नहीं हो सकता। इसीलिये साहित्यशास्त्रियों ने महाकाव्य में भी 'सर्वे नाटक-संधय.' का विधान किया है। संधियाँ अर्थ प्रकृतियों और अवस्थाओं को मिलाने वाली होती हैं; अतः संधियों के साथ उनका होना अनिवार्य हो जाता है। इसलिये एक प्रकार से महाकाव्य में सभी नाटकीय तत्वों का समावेश हो जाता है; कथा-वस्तु के विस्तार और विकास के लिये ये सभी तत्व आवश्यक हैं।

कामायनी के 'आधिकारिक' वस्तु मे मनु और श्रद्धा का संयोग तथा आनन्द-प्राप्ति तक का उनका संयुक्त जीवन आता है। नायक-नायिका के क्रिया-कलाप को विस्तार तथा विविधता देने वाले और उसके प्रवाह को इधर-उधर मोड़ने वाले 'प्रासंगिक' वस्तु के अन्तर्गत वे घटनायें आती हैं, जिनका मूल सम्बन्ध किलाताकुली तथा इड़ा से है। मनु-इड़ा-मिलन, मनु का राज्य शासन, संघर्ष, सारस्वत प्रदेश-वासियों की कैलाश-यात्रा आदि इड़ा-काण्ड की अङ्गभूत घटनाओं का समावेश 'पताका' में होता है, जिससे आधिकारिक वस्तु की रोचकता बढ़ती है और उसके विकास तथा प्रसार में सहायता मिलती है। किलाताकुली का पौरोहित्य तथा यज्ञ में पशुबलि आदि 'प्रकरी' में आते हैं, जिसके बिना मनु में असुरत्व वृद्धि, श्रद्धात्याग, इड़ा पर

अतिचार तथा संघर्ष का नेतृत्व न हो सकने से 'पताका' का अस्तित्व ही न हो पाता।

पताका तथा प्रकरी के अतिरिक्त अन्य तीनों अर्थ-प्रकृतियों का निर्वाह भी कामायनी में अच्छी तरह हुआ है। कामायनी का 'कार्य' (चरम लक्ष्य) विपन्न और विपरण मनु को 'अखण्ड आनन्द' की प्राप्ति करवाना है। पर्वतारोहण से प्रारम्भ होने वाला यह लक्ष्य पूरा तो होता है आनन्द सर्ग में, परन्तु इसका 'बीज' चिन्ता और आशा सर्गों में ही पड़ जाता है, क्योंकि जहाँ प्रथम में वह अवसाद और पश्चाताप, तथा निराशा और मृत्यु से आलोड़ित दुःख-सागर में डुबकी लगाता हुआ दुःख-निवारण की उत्कट आवश्यकता अनुभव करता है, वहाँ द्वितीय सर्ग में दुःख-विनाश की आशा तथा आनन्द-प्राप्ति की सम्भावना-स्वरूप विश्व के रमणीय तत्व की ओर उसका ध्यान आकृष्ट होता है और 'जीवन! जीवन! की पुकार' आने लगती है.—

> हे अनन्त रमणीय! कौन तुम?
> यह मैं कैसे कह सकता।
> कैसे हो? क्या हो? इसका तो
> भार विचार न सह सकता।

इस 'बीज' और 'कार्य' के बीच सारा वस्तु 'बिन्दु' है, जिसमें अग्निहोम, श्रद्धा-प्राप्ति, स्त्री-सहवास, आखेट, सोमपान, सारस्वत-प्रदेश में शासन आदि द्वारा बीज पल्लवित और पुष्पित होता है।

इस प्रकार जिस आनन्द-प्राप्ति का बीज-वपन होता है, उसका यथार्थ प्रारम्भ श्रद्धा के मिलन पर होता है। श्रद्धा के समर्पण से लेकर काम तथा वासना की अभिव्यक्ति तक 'आरम्भ' अवस्था है, जिसमें मनु आनन्द की चाह में स्थूल भोगों को खोजने लगता है। इस अवस्था तथा 'बीज' अर्थप्रकृति को मिलाने के लिये 'मुख'-संधि रक्खी गई है, जिसमें यजन,

मनन, चिन्तन करते करते मनु के मन में 'मधुर प्राकृतिक भूख समान' अनादि वासना जगती है और वह 'प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या ?' चाहने लगता है—

मिले कहीं वह पड़ा अचानक
उसको भी न लुटा देना।
देख तुझे भी दूंगा तेरा
भाग, न उसे भुला देना॥

यह इच्छा होते ही श्रद्धा-सर्ग में मनु को 'मधुकरी के मधु-गुञ्जार' सा नारी का स्वर सुनाई पड़ता है और

एक छिटका सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे से, कान—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।

आरम्भ अवस्था के पश्चात 'पल भर की उस चंचलता' के लिये श्रद्धा द्वारा लज्जा-दमन, यज्ञ तथा गर्भ धारण, मनु द्वारा यज्ञ में पशु वलि, सोम-पान, श्रद्धा का भावी शिशु के लिये कुटीर बनाना मनु का भागकर इड़ा के पास जाना, सारस्वत प्रदेश में शासन-व्यवस्था करना और अन्त में इड़ा पर अतिचार करना ये सब 'यत्न' की अवस्था के अन्तर्गत आते हैं; इनके द्वारा मनु एक एक करके बाह्य विश्व के भोगों में आनन्द ढूँढ़ता है, परन्तु व्यर्थ, उसे प्रत्येक प्रयत्न के पश्चात् निराश होना पड़ता है, उस चिर प्यास को 'एक घूँट' नहीं मिल पाता—

एक घूँट का प्यासा जीवन··· ··

इस 'यत्न' अवस्था तथा 'बिन्दु' का मेल वासना सर्ग में होता है, जब कि मनु श्रद्धा का आत्म-समर्पण करते हैं और श्रद्धा स्वीकार करती है—

किन्तु बोली "क्या समर्पण आज का है देव !
बनेगा चिर-'बंध' नारी-हृदय हेतु सदैव ।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान ।
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान ?

यही 'प्रति-मुख' संधि है।

'यत्न' के पश्चात् 'प्राप्त्याशा' की अवस्था आती है, जिसमें जिस फल (आनन्द) की प्राप्ति के लिये अब तक प्रयत्न होते रहे, उसकी प्राप्ति की आशा होने लगती है। इसके अन्तर्गत मनु का घायल होकर गिरना, श्रद्धा का स्वप्न देखकर उसके पास आना, मनु का निर्वेद और पलायन तथा श्रद्धा से पुनर्मिलन, श्रद्धा का उपदेश तथा मनु द्वारा श्रद्धा में नटराज-रूप देखना आदि हैं। इस अवस्था और बिन्दु की गर्भ-संधि तब होती है, जब मनु युद्ध करते-करते घायल हो जाते हैं और मुमूर्षु अवस्था में गिर पड़ते हैं तथा इड़ा उनके पास बैठी हुई अतीत पर विचार-विमर्श करती है,—

आज पड़ा है वह मुमूर्षु सा
वह अतीत सब सपना था,
उसके ही सब हुए पराये,
सबका ही जो अपना था।
× × ×
इसे दंड देने मैं बैठी
या करती रखवाली मैं ?
यह कैसी है विकट पहेली,
कितनी उलझन वाली मैं।

'नियताप्ति' में फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। इस अवस्था का प्रारम्भ पर्वतारोहण से प्रारम्भ होता है, जब कि—

दोनों पथिक चले हैं कब से
ऊँचे ऊँचे चढ़ते चढ़ते,
श्रद्धा आगे मनु पीछे थे
साहस उत्साही से बढ़ते।

और 'प्रतिकूल पवन वेग, भीषण खड्ड, भयङ्कर खाईं, वात-चक्र' को पार करने में हताश होते हुए मनु को साहस बँधाती हुई श्रद्धा अन्त में ऐसे स्थान पर पहुँच जाती है, जो दिवा-रात्रि, ग्रह, तारे और नक्षत्रों से परे था और जहाँ पहुँच कर श्रद्धा कहती हैः—

"घबराओ मत ! यह समतल है
देखो तो, हम कहाँ आ गये"
मनु ने देखा आँख खोलकर
जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये।

इस पर्वतारोहण से प्रारम्भ होने वाली और आनन्द प्राप्ति में समाप्त होने वाली 'कार्य' नामक अर्थ प्रकृति को नियताप्ति अवस्था से मिलाने वाली 'अवमर्श' सन्धि दर्शन सर्ग के अन्त में आती है, जब श्रद्धा का उपदेश सुनते-सुनते

देखा मनु ने नर्तित नटेश
हत-चेत पुकार उठे विशेष—
यह क्या ! श्रद्धे बस तू ले चल।
उन चरणों तक दे सबल।

बस इसके पश्चात् श्रद्धा मनु को लेकर 'ऊर्ध्वदेश' की ओर चल देती है। उपर्युक्त नियताप्ति में फल प्राप्ति का निश्चय होने के पश्चात् आनन्द-सर्ग में 'फलागम' होता है, जब कि चारों ओर आनन्द ही आनन्द छाया हुआ था और

कण कण में सब परिवर्तित
अणु अणु थे विश्व कमल के;
पिंगल पराग से मचले
आनन्द सुधा रस छलके।

इस अन्तिम अवस्था को 'कार्य' अर्थप्रकृति से मिलाने वाली 'निर्वहण' संधि में त्रिपुर-रहस्य का उद्घाटन होता है, जिसके कारण मनु देखता है:—

शक्ति तरङ्ग प्रलय पावक का
उस त्रिकोण में निखर उठा-सा;
शृङ्ग और डमरू निनाद बस
सकल विश्व में बिखर उठा-सा।

(ग) कामायनी के वर्ण्य विषय (प्रकृति)

प्रकृति का स्वरूप

कामायनी के वर्ण्य विषयों में प्रकृति का प्रमुख स्थान है; परन्तु कामायनी में प्रकृति कभी अकेली नहीं आती। 'हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर' से लेकर सरस्वती तट तक और सारस्वत-प्रदेश से लेकर कैलाश तक—यही कामायनी का घटना-क्षेत्र है, जिसमें प्रसाद ने नदी, समुद्र, पर्वत, घन, वर्षा, आँधी, झंझा, उल्का, उषा, रात्रि, संध्या, अन्धकार, नक्षत्र, प्रकाश आदि प्रकृति के अनेक अङ्गों को चित्रित करने का अवसर ढूँढ निकाला है, परन्तु प्रकृति इन सब स्वरूपों में 'पुरुष' के साथ है—कहीं उसके 'प्रलय-प्रवाह' को 'एक पुरुष भीगे नयनों से' देख रहा है, तो कहीं 'हँसती सी पहिचानी सी अकेली प्रकृति' उसकी 'मर्म-वेदना' की कहानी सुन रही है; कभी पुरुष 'विज्ञान सहज साधन उपाय' से 'ऐश्वर्य-भरी परम रमणीय प्रकृति का पटल खोलने में

परिकर कसकर कर्मलीन' बन रहा है, तो कभी पुरुष के अतिचार से 'प्रकृति त्रस्त' होकर 'क्रोध भरी देव-शक्तियों' को प्रेरित करती है।

प्रकृति-पुरुष के निरन्तर सहवास के समान ही विचित्र है कामायनी में बाह्य-प्रकृति और अन्त प्रकृति का सादृश्य तथा पारस्परिक प्रभाव। जलप्लावन में प्रकृति क्षुब्ध होती है तो मनु के मानस में भी क्षोभ, निराशा और चिन्ता उत्पन्न करती है जिससे वह मृत्यु के 'शीतल अङ्क' का आह्वान करने लगता है और बाद में प्रकृति की स्तब्धता उसी की हृदय-दशा की समानता करती है —

दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान॥

जल प्लावन समाप्त होने पर जब 'त्रस्त प्रकृति का वह विवर्ण मुख फिर से हँसने लगा' तो मनु के मन में भी 'मधुर-स्वप्न सी झिलमिल' आशा जगी और वह 'मैं हूं, मैं रहूँ' के विश्वास से कर्म तथा कर्म से सहानुभूति की ओर चला, और एक चन्द्रिका चर्चित निशीथ के 'रमणीय दृश्य' से प्रभावित होने पर उसके मन में 'अनादि वासना' का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप 'विश्वकमल की मृदुल मधुकरी' रजनी मनु को खिलखिलाती हुई एक ऐसी अवगुण्ठनवती रमणी के समान लगी, जो 'जीवन की छाती के दाग' खोजती हो; मनु भी 'कुछ' (प्रेम, वेदना, आदि या कि क्या?) खो चुका है, जिसके लिये वह रजनी से अनुरोध करता है।—

मिले कहीं वह पड़ा अचानक
उसको भी न लुटा देना,
देख तुझे भी दूँगा तेरा
भाग, न उसे भुला देना।

यह अन्त प्रकृति और बाह्य प्रकृति के सहयोग से उत्पन्न मनु का एक 'मनोराज्य' है, जागृत स्वप्न है, जो एक भविष्यवाणी

सिद्ध होता है और फलतः मानों उक्त अनुरोध के उत्तर-स्वरूप ही श्रद्धा आ जाती है जिसका सौन्दर्य भी उक्त रात्रि-सुन्दरी के सौन्दर्य समान ही मादकता तथा मधुरिमा से पूर्ण है, हँसी का मदविह्वल प्रतिबिम्ब' है। बाह्य-प्रकृति और अन्तःप्रकृति की ऐसी ही अभिसंधि का परिणाम श्रद्धा का 'स्वप्न' है जो एक सच्ची घटना के यथार्थ साक्षात्कार के समान है।

अन्तःप्रकृति और बाह्य-प्रकृति के बीच इस अज्ञात 'बे तार के तार' का प्रमाण कामायनी की कुछ अन्य घटनाओं में भी मिलता है। मनु की रंगीन भावनाओं की प्रतिकृति-स्वरूपा काम-ध्वनि इधर 'उसके पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो' का उपदेश करती है, तो उधर मनु 'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ' कहता हुआ श्रद्धा को आत्म-समर्पण कर देता है। चपल सौन्दर्य की 'धात्री' लज्जा की पकड़ 'ठहरो कुछ सोच विचार करो' की शिक्षा द्वारा जिस अनिष्ट की आशङ्का की ओर संकेत करती है वह अन्त में श्रद्धा-परित्याग के रूप में आ ही खड़ा होता है। मनु जभी यज्ञ करने की इच्छा से 'कौन पुरोहित बनेगा; किस विधान से यज्ञ करूँ' आदि बातें सोच रहे हैं, तभी अकस्मात् किलाताकुली आकर उनकी मनचाही कह देते हैं —

यजन करोगे क्या तुम ? फिर यह
किसको खोज रहे हो;
अरे पुरोहित की आशा में
कितने कष्ट सहे हो।

इसी प्रकार 'मन की परवशता महा दुःख' से व्यथित मनु को बुद्धिवादी इड़ा का 'स्वयं बुद्धि' होकर मिलना, मनु के अतिचार से त्रस्त होती हुई इड़ा के त्राण के लिये तुरन्त सिंह-द्वार को तोड़कर प्रजा का भीतर घुसना और निर्विषय तथा विरक्त मनु के लिये शान्ति

इसी अचल 'एकान्त' को जब वह छोड़ती है तभी उसके परमाणुओं से नानात्वमयी सृष्टि हो जाती है। प्रसाद ने इस प्रक्रिया का बड़ा ही सुन्दर वर्णन अपनी कवित्वपूर्ण भाषा में किया है:—

> वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई
> अपने आलस का त्याग किये;
> परमाणु बाल सब दौड़ पड़े,
> जिसका सुन्दर अनुराग लिये
> कुंकुम का चूर्ण उड़ाते से,
> मिलने को गले ललकते से;
> अन्तरिक्ष के मधु उत्सव के
> विद्युत्कण मिले झलकते से।
> वह आकर्षण, वह मिलन हुआ
> प्रारम्भ माधुरी छाया में;
> जिसको कहते सब सृष्टि, बनी
> मतवाली अपनी माया में।
> प्रत्येक नाश विश्लेषण भी,
> संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रहीं;
> ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था,
> मादक मरंद की वृष्टि रही।

बाह्य जगत् की इस नानात्वमयी जड़ संसृति में व्यक्त होनेवाली यह मूल शक्ति स्वयं जड़ नहीं है; आगमों में इसे चिद्रूपिणी 'कामकला' कहा है, जो चित् से भिन्न है और चेतन तथा जड़, अन्तः तथा बाह्य सृष्टि के रूप में 'जड़-चेतनता की गाँठ' सी होकर व्यक्त होती है:—

> वह लीला जिसकी विकस चली
> —वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला;

उसका सन्देश सुनाने को
संसृति में आई वह अमला।

वास्तव में, प्रसाद के शब्दों में, 'वह विश्व चेतना' है, जिसके 'चेतन समुद्र में जीवन लहरों सा बिखर पड़ा है' जिसके 'ज्योत्स्ना-जलनिधि में बुद्बुद् सा रूप बनाये नक्षत्र दिखाई देते' हैं। अपने अमूर्त रूप में वह एक 'अभेद सागर' है जिसमें प्राणों के संकोच-प्रसार का निरन्तर चलता हुआ क्रम मूर्त जगत के नाना रसों को इसमें घुला मिलाकर एक रस, एक 'चरम भाव' में परिणत कर देता है। दूसरे शब्दों में, 'अपने सुख-दुःख से पुलकित सचराचर मूर्त विश्व' की व्यक्त समष्टि के भीतर 'चिति का विराट वपु' है, जो शाश्वत रूप में शिव, सत्य तथा सुन्दर है।

अपने दुख सुख से पुलकित
वह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट वपु मंगल
वह सत्य सतत चिर सुन्दर।

यह चिति उस चिद्ब्रह्म की शक्ति है, जिससे उसका शक्तिमान् चिर तरंगायित रहता है:—

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्तितरंगायित था
आनन्द अम्बु निधिशोभन।

वास्तव में शक्ति और शक्तिमान्, जैसा कि अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में कहा है, एक दूसरे से पृथक रह ही नहीं सकते, अग्नि और दाहकत्व की भाँति उनका तादात्म्य नित्य है —

शक्तिरस्य शक्तिमतृपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति,
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव

प्रकृति-पुरुष का संघर्ष

यद्यपि यह शक्ति अपने अव्याकृत मूल रूप में शक्तिमान् के साथ तादात्म्य रखती है, फिर भी अपने विकृत और व्याकृत रूप में यह पुरुष के लिये निरन्तर ही संघर्ष उपस्थित करती रहती है। 'प्रधान' से 'महत्' होते ही यह एक पुरुष पुरातन को अनेक पुरुषों में, एक महादेव को अनेक देवों में बदल देती है और उन देवों के निवास के लिये न केवल अनेक मन्दिर (शरीर) बना डालती है, अपितु उनके आस-पास चारों-ओर अनेक आकर्षण-विकर्षण-मय रूपों में व्यक्त होकर 'संघर्ष' की भूमिका प्रारम्भ कर देती है; इसीलिये वेद* में 'महत्' को देवों का एक असुरत्व कहा गया है।

यह संघर्ष संसार का एक सनातन सत्य है। भारतीय विकासवाद के चार सम्प्रदायों तथा आधुनिक डार्विनवाद ने जहाँ इसका प्रभाव जन्तुशास्त्रीय विकास में स्वीकार किया है वहाँ वैदिक समाजशास्त्र और आधुनिक मार्क्सवाद इसका प्रभाव एक प्रकार से सामाजिक जीवन के विकास में भी स्वीकार करता है। मानव-जीवन में यह संघर्ष अध्ययन की सुविधा के लिये, ३ भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मानवता और प्रकृति का संघर्ष (२) पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में 'प्रकृति के पुतलों का परस्पर संघर्ष तथा (३) व्यक्तिगत जीवन में आत्मानात्म संघर्ष।

कामायनी का प्रारम्भ ही प्रथम प्रकार के विकराल संघर्ष से होता है। एक समय था कि मनु की जाति ने अपनी शक्ति के द्वारा प्रकृति को मुट्ठी में कर रक्खा था:—

* दे० 'वैदिक-दर्शन'

सब कुछ थे स्वायत्त विश्व के —
बल, वैभव, आनन्द अपार।

× × ×

शक्ति रही हाँ शक्ति, प्रकृति थी
पद तल में विनम्र विश्रान्त ॥

परन्तु, एक दिन आया जब कि जल प्लावन में उस जाति का 'सब कुछ' चला गया और उसके एकमात्र अवशिष्ट व्यक्ति को प्रकृति की विजय तथा अपनी पराजय स्वीकार करना पड़ी।—

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब थे भूले मद में।

परन्तु, दुख के बादल फटते ही वह यह हार भूल जाता है और प्रकृति विजय पर फिर उतारू होकर सारस्वत-प्रदेश को यान्त्रिक सभ्यता द्वारा प्रकृति के 'अत्याचार' का प्रतिकार करना सिखाता है —

अत्याचार प्रकृति कृत हम सब जो सहते हैं
करते कुछ प्रतिकार न अब हम चुप रहते हैं।

आत्मानात्म-संघर्ष की ओर 'कामायनी में रूपक' पर विचार करते हुए संकेत किया जा चुका है और अगले अध्याय में इसका सविस्तार वर्णन होगा, यहाँ अब दूसरे प्रकार के संघर्ष पर विचार करना उचित होगा।

(घ) प्रकृति के पुतलों का संघर्ष

स्त्री-पुरुष में

मनु श्रद्धा और मनु-इड़ा के बीच होने वाले संघर्ष में प्रसाद ने स्त्री-पुरुष-समस्या को लिया है। मनु-इड़ा के संघर्ष का कारण उनका विचार-भेद कहा जा सकता था, परन्तु मनु और इड़ा तो एक ही

विचारधारा वाले हैं—दोनों शुद्ध बुद्धिवादी और जड़वादी हैं, फिर भी उनमें भयङ्कर संघर्ष होता है। अत जो लोग वर वधू में विचारों की एकता के बल पर दाम्पत्य-जीवन में सुख-शांति निश्चित करना चाहते हैं वे भूल में हैं। वास्तव में स्त्री-पुरुष-संघर्ष का मुख्य कारण यह है कि वे इन्द्रिय-सुख को ही विवाहित जीवन का चरम लक्ष्य मान लेते हैं। इसी कारण मनु की ईर्ष्या ने श्रद्धा को और उसके अतिचार ने इड़ा को खोया। दाम्पत्य-जीवन का विषय भोग मोक्ष के लिये आवश्यक संयम तथा सदाचार का साधन मात्र होना चाहिये—मनु को श्रद्धा के नेतृत्व तथा आदेश में रहकर ही चलना चाहिये, तभी न केवल उन्हें आनन्द मिलेगा, अपितु इड़ा जैसी जड़वादी बुद्धिवाद की अनुगामिनी भी उसके सामने घुटने टेक देगी।

समाज में

कामायनी में एक बड़े सामाजिक संघर्ष और भयङ्कर राज्य-क्रांति का चित्रण है। देखने में तो इसका तात्कालिक कारण मनु का इड़ा पर 'अतिचार' था। परन्तु अधिक ध्यान देने से पता चलता है कि मनु से प्रजा पहले ही असन्तुष्ट थी और उस समय 'सिंहद्वार' को तोड़ने के समय ही मनु द्वारा त्रस्त इड़ा का क्रन्दन केवल एक संयोग था। मनु ने अपनी यांत्रिक सभ्यता द्वारा लोगों में लोभ, कृत्रिम दु खों को सुख समझना तथा सम्पत्ति-वितरण के वैषम्य से उत्पन्न आर्थिक शोषण आदि की वृद्धि प्रदान की थी और उनसे प्रकृतशक्ति छीनकर उन्हें अशक्त कर दिया था। अतः प्रजा पहले ही से किलाताकुली के नेतृत्व में संगठित होकर आई थी; उनका ऐसा संगठित और सुसज्जित आक्रमण किसी तात्कालिक घटना का परिणाम नहीं हो सकता था, वह यांत्रिक सभ्यता के भोगवाद और भौतिकवाद से उत्पन्न अशान्ति की बारूद का आकस्मिक विस्फोट था जिसने स्पष्ट कर दिया कि भौतिकता में सामाजिक सुख शान्ति नहीं।

सामाजिक सुख-शान्ति का विधायक प्रजापति मनु नहीं, ऋषि मनु है। जिस मनु को सारस्वत-नगर-निवासियों ने ससार से मिटा देना चाहा था, उसी की शरण में सब कैलाश को जाते हैं और सच्ची शान्ति को पाकर अपने को धन्य मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रसादजी के अनुसार भौतिकवाद से सामाजिक कल्याण नहीं हो सकता, इसकी प्राप्ति तो तभी हो सकती है जब समाज और राष्ट्र के नियामक वीतराग ऋषि हों, जो सब के सुख में ही अपना सुख मानते हों —

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है,
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।

सर्व-सेवा के इस आदर्श की पूर्ति एक भौतिकवादी द्वारा सम्भव नहीं, वह अपने देहाभिमान और स्वार्थ को इतना नहीं छोड़ सकता, इसकी वास्तविक पूर्ति तो सच्चा अध्यात्मवादी ही कर सकता है, जो गाँधीजी की भाँति अपने 'अहम्' की चेतनता में सब को समेट सकता हो और जो अपने चैतन्यस्वरूप का साक्षात्कार करके स्वयं निर्विकार हो हो गया हो —

मैं की मेरी चेतनता
सब को ही स्पर्श किये सी,
सब भिन्न परिस्थितियों की
है मादक घूँट पिये सी।
चेतन का साक्षी मानव
हो निर्विकार हँसता था,
मानस के मधुर मिलन में
गहरे गहरे धँसता सा।

सब भेद-भाव भुलवाकर
दुख-सुख को दृश्य बनाता,
मानव कह रे ! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता ॥

प्रकृति के पुतलों की भाग्य-विधात्री

कामायनी में प्रकृति मनुष्य के सामाजिक जीवन की नियन्त्रिका होने के कारण उसकी भाग्य-विधात्री भी है। देव-जाति के दंभ, दर्प अनाचार और अत्याचार को बढ़ता देखकर न मालूम प्रकृति किस अज्ञात शक्ति से उनके लिये दण्ड-विधान करती है और सब के सब जल-प्लावन में डूब जाते हैं।—

उनको देख कौन रोया यों
अन्तरिक्ष में बैठ अधीर !
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय,
यह प्रालेय, हलाहल नीर

सारस्वत-प्रदेश में मनु के राज्य में निरन्तर बढ़ते हुए शोषण, अत्याचार और अतिचार की चरमसीमा जब 'इड़ा रानी' पर होने वाले अतिचार के रूप में पहुँच जाती है, तो प्रकृति और उसके पुतलों का भयङ्कर कोप होता है और अत्याचारी को कहना पड़ता है:—

तो फिर मैं हूँ आज अकेला जीवन रण में,
प्रकृति और उनके पुतलों के दल भीषण में

अनीश्वरवादी और भौतिकवादी लोग चाहे ऐसी घटनाओं को केवल 'संयोग' कह कर ही टाल दें और उनके पीछे किसी अदृश्य सत्ता का हाथ न देखें, परन्तु एक ईश्वरवादी के लिये, जो सारे चराचर विश्व की समष्टि में एक ही 'विराट वपु' देखता हो युद्ध दुर्भिक्षादि

ईति भीति उसी प्रकार समष्टि-गत रोग है, जिस प्रकार व्यष्टिगत कुष्ठादि, और दोनों का एकमात्र उद्देश्य है प्रकृति विरुद्ध आचरण करने का दण्ड। बिहार-भूकम्प का कारण बताते हुए गाँधीजी ने भी एक ऐसी ही बात कही थी, जिसकी आलोचना कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने कड़ेशब्दों में की थी। पर जिसने न केवल सामूहिक चेतना की अभिव्यक्तियों का पर्यवेक्षण किया है, अपितु उस चेतना से अपनी व्यष्टि-चेतना का तादात्म्य करके अनुभव भी किया है, वह ही समझ सकता है कि जिस प्रकार सामाजिक पापों के विरुद्ध मानव-चेतना विद्रोह करती है उसी प्रकार बाह्य प्रकृति में व्याप्त चेतना भी करती है या नहीं। विश्व के सन्तों की अनुभूति तो इस विषय में 'हाँ' ही कहती है।

देवासुर-संग्राम

(१) देवत्व

कामायनी की देव-सम्पदा

कामायनी की सृष्टि जिस जाति के ध्वंसावशेषों पर हुई है वह देव जाति थी। उसकी शक्ति, समृद्धि और सुख-लिप्सा चरमसीमा तक पहुँच चुकी थी। विश्व के अपार बल, वैभव और आनन्द उनकी मुट्ठी में थे (१७, १); उनका यश, तेज और सौन्दर्य सप्तसिन्धु के तरल कणों, द्रुम दलों और चतुर्दिक में व्याप्त हो रहे थे (१७, २); उनके रत्न-सौधों को जिनके वातायनों में मधु-मदिर समीर संचरण करता था, अम्लान-कुसुम-सुरभित मणि-रचित मनोहर मालायें धारण किये हुए तथा अन्य प्रकार से मधुरतम शृंगार किये हुए सुर-बालायें उषा और ज्योत्सना के समान अपने यौवन-स्मित एवं मधुप-सदृश निश्चिन्त विहार से सुशोभित कर रही थीं (२१, १; १७, ४); उनके सुरभित अंचल से जीवन के मधुमय निश्वास चल रहे थे और उनके कोलाहल से देवजाति का सुख-विश्वास मुखरित हो रहा था (१६,३); उनमें असीम शक्ति थी; प्रकृति विनम्र और विश्रान्त हुई उनके चरणों को चूम रही थी; उनके पाद-प्रहार से आक्रान्त होकर पृथ्वी काँप रही थी (१७, ३)। निरन्तर शक्ति-संचय से, सुख-साधन में अविराम वृद्धि होती जा रही थी, यहाँ तक कि—

> सुख, केवल सुख का वह संग्रह
> केंद्रीभूत हुआ इतना
> छाया-पथ में नव-तुषार का
> सघन मिलन होता जितना। (१६, ४)

इस असीम शक्ति और समृद्धि का स्वाभाविक परिणाम था उद्दण्ड अभिमान तथा उन्मत्त विलास (१७, ४, १६, २)। ये अपने को 'सर्ग के अग्रदूत'! समझ कर रक्षक– या भक्षक– बन बैठे (१२, १), वे स्वयं देव थे, तो सृष्टि भी विशृङ्खल क्यों न होती! (१०, ४)। देव-यजन के पशु-यज्ञों की पूर्णाहुति-ज्वाला धधकने लगी (२१, २), अमरता के पुतलों का जय नाद दिशाओं में गूँज उठा (१५, ४)। इस प्रकार की उपेक्षा भरी उद्दण्ड अमरता में चिर कामना चिर अतृप्ति और निर्बाध विलास का होना अनिवार्य है। अतः वे विकल-वासना के प्रतिनिधि बन गये, चिर किशोर-वय, नित्य-विलासी तथा दिगंत को सुरभित करने वाला मधु पूर्ण अनन्त वसन्त विचरने लगा (२०, १, १३, २, २, २); कुसुमित कुञ्जों में पुलकित करने वाले चुम्बन और प्रेमालिगन होने लगे, बीन बज उठी, मधुर तानें सुनाई पड़ने लगीं; कंकण क्वणित होने लगे, नूपुर बजने लगे, गीतों में स्वर-लय का अभिसार होने लगा (१०, २, १८, २-४; १३, १)। सौरभ से दिगन्त पूरित था, अन्तरिक्ष आलोक अधीर था, अनङ्ग-पीड़ा-अनुभव सा अङ्ग-भंगियों का नर्तन और मधुकर के मरंदो त्सव-समान मदिर-भाव से आवर्तन हो रहा था, (१३, १-२) सुरा और सुर-बालाओं में अनुरक्त देव-गण 'विलासिता के मद में' तिरते हुए दिखाई पड़ते थे—

> सुरा सुरभिमय बदन अरुण वे
> नयन भरे आलस अनुराग
> कल-कपोल था जहाँ बिछलता
> कल्पवृक्ष का पीत पराग।
>
> × × ×
>
> भीगे थे, हाँ तिरते केवल
> सब विलासिता के मद में

वैदिक देव सभ्यता से तुलना

आध्यात्मिक पक्ष को छोड़कर केवल पुराण-शास्त्रीय (Mythological) दृष्टि से विचार करने पर, देव-सभ्यता का यह चित्र मूलतः वैदिक कहा जा सकता है; कवि की कलात्मक प्रज्ञा का जो चमत्कार यहाँ दिखाई पड़ता है, उसकी आधार-भूमि वेद अथवा पुराणों में विकसित वैदिक परम्परा है। अमरावती के जिस बल, वैभव और विलास का वर्णन पुराणों में मिलता है, उसका आभास ऋग्वेद में भी मिल जाता है। देवों की शक्ति के सामने असुर तो ठहरते ही नहीं, द्यावापृथिवी भी उनका लोहा मानते हैं और पर्वत भी काँपने लगते हैं (ऋ० २, १२, १३) मघ, वसु, रयि के वे स्वामी हैं (ऋ० ६, १८, ४; २, १३, ४, ७, १, ३२, १, ४; ६, १७, १, ३; ८, ८४, १६; ४, २६, ४; ८, ७८, ४ इत्यादि); स्वर्ण-आभूषणों से सुसज्जित वे नक्षत्र-मंडित गगन की भाँति चमकते हैं (ऋ० २, ३४, २; ४, ४४, ११ इत्यादि)। यह अनन्त विश्व देवराज की मुट्ठी में है (ऋ० ३, ३०, ५) उसके महत्त्व से आकाश और पृथ्वी परिपूर्ण हैं (ऋ० ४, १६, ५) उसके शौर्य की कहानी नदियाँ तक कह रही हैं (एता अर्षन्त्यललाभवन्ती ऋतावरीरिव संक्रोशमाना.। एता वि पृच्छ किमिदं भनन्ति कमापो अद्रिं परिधिं रुजन्ति, ऋ० ४, १८, ६); उसके जन्मते ही आकाश काँप उठता है (ऋ० ४, १७, २)

इस बल और वैभव के परिणाम-स्वरूप होने वाली अहम्मन्यता और उद्दण्डता के प्रमाणों की भी कमी नहीं। इन्द्र और देवों का विजयनाद केवल दासों, दस्युओं और असुरों के विरुद्ध ही नहीं होता था, अपितु उनका विजयोन्माद गृह-कलह और अत्याचार की ओर उन्हें अग्रसर करता था। वृत्रघ्न का जो रणोत्साह शंबर के और पिप्रु के पुरों के भेदन करने (ऋ० २, १४, ६; १, ५१, ५); चुमुरी तथा धुनी को बंदी बनाने (ऋ० २, १५, ६; २, १५, ६), दस्युओं का रक्त-

पात करने (ऋ० १, ६१, ६; ७, ३३, ३) तथा शत्रुओं को निर्दयता पूर्वक परुष्णी में डुबा देने में दिखाई पड़ता है, वही परम सुन्दरी उषा के रथ-भंजन (ऋ० २, १५ ६ तु० क० oldenberg R V 169 *Macdonell V. M. 63, Griffith, Eng Trans 2nd edition,* Vol 1. 1896 P. 432, footnote 1), अपने चिर-सहयोगी मरुतों से झगड़ने (ऋ० १, १७०, २), परममित्र कुत्स को शत्रु बनाने तथा रथ-दौड़ के विषय में ही सूर्य से लड़ पड़ने में प्रयुक्त होता दिखाई पड़ता है। यही नहीं, शिष्टता की सीमा का उल्लघन करके, वह अपने अहङ्कारवश अपनी प्रशंसा भी स्वय कर डालता है.—

> अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
> अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽह कविरुशना पश्यता मा ॥ १ ॥
> अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय
> अहमपो अनयवाव्शाना ममदेवासो अनुकेतमायन् ॥ २ ॥
> अहंपुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकंनवतीः शम्बरस्य
> शततमं वेश्य सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥ ३ ॥

यह आत्म प्रशसा (विशेषतः तीसरी और चौथी पंक्तियाँ) हमें 'कामायनी' के अमृत-सन्तान (६६, १) मनु की निम्न लिखित गर्वोक्ति की याद दिलाती है—

> और पुकारा "तो सुनलो जो कहता हूँ अब,
> तुम्हें तृप्तिकर सुख के साधन सकल बताये,
> मैंने ही श्रम भाग किया फिर वर्ग बनाये ।
> आज न पशु हैं हम, या गूँगे काननचारी
> यह उपकृति क्या भूल गये तुम आज हमारी"

'कामायनी' के देवों के उन्मत्त-विलास (२०, ७) का सादृश्य भी वैदिक साहित्य में प्रचुरता से मिलता है। देवों के गंधर्व-वर्ग में,

जिसके अन्तर्गत अग्नि (अग्निर्हि गन्धर्वः, श० ब्रा० ९, ४, १, ७, शु० य० वा० सं० १८, ३८) चन्द्रमा (चन्द्रमा गन्धर्वः, श० ब्रा० ९, ४, १, ८, शु० य० वा० सं० १८, ४०), सूर्य (सूर्यो गन्धर्वः, श० ब्रा० ९, ४, १, ८) तथा आदित्य (आपो वा आदित्यो दिव्यो गन्धर्वः, श० ब्रा० ६, ३, १, १९) भी आते हैं, कामुकता का तो प्राधान्य ही दिखाई पड़ता है, जैसा कि निम्नलिखित ब्राह्मण-वाक्यों से स्पष्ट हो जायेगाः—

योषित्कामा वै गन्धर्वाः श० ब्रा० ३, २, ४, ३; ३, ९, ३, २०.

स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः, ऐ० ब्रा० १, २७ शु० य० श० ब्रा० १४, ६, ३, १; कौ० ब्रा० २, ९; ऐ० ब्रा० ५, ११ इत्यादि । त (गन्धर्वाः) उ ह स्त्रीकामाः कौ० ब्रा० १२, ३

गन्धर्व लोग, वरुण तथा आदित्य की यौवन-सम्पन्न और सौन्दर्ययुक्त प्रजा हैं*; रूप की वे उपासना करते हैं†; गन्ध, मोद और प्रमोद उनके विशेष लक्ष्य हैं‡ तथा हास, क्रीड़ा और मैथुन में अनुरक्ति रखने वाली× एवं सोम वैष्णव की प्रजा युवती सुन्दरी+ और गन्धोपासिका§ अप्सराओं= से उनका चोली-दामन का साथ मालूम

* वरुण आदित्यो राजेत्याह तस्य गन्धर्वा विशस्त इम आसत इति युवान शोभना उपसमेता भवन्ति श० ब्रा० १३, ४, ३, ७ शु० य० शां० श्रौ० सू० १६, १, ८; आ० श्रौ० सू० १०, ७, ३ ।

† रूपमिति गन्धर्वाः उपासते श० ब्रा० १०, ५, २, २० ।

‡ गन्धो मे मोदो मे प्रमोदो मे जै० उ०, ३, २५, ४ ।

× किं नु ते अस्मासु अप्सरसु । हसो मे, क्रीडा मे, मिथुनम्मे जै० उ०, ३, २५, ८ ।

+ सोमो वैष्णवो राजेत्याह तस्याप्सरसो विशस्ता इमा आसत इति युवतयः शोभना उपसमेता भवन्ति, श० ब्रा० १३, ४, ३, ८ ।

§ गन्ध इत्यप्सरसः श० ब्रा० १०. ५, २, २० ।

= श० ब्रा० ६, ४; १, ४; जै० उ० १, १२, १; तां० १६, ३, २ ।

पड़ता है, और प्रायः उनका उल्लेख 'गंधर्वाप्सरस' की संयुक्तसंज्ञा से किया जाता है। अप्सराओं से केवल गन्धर्वों ही की घनिष्ठता नहीं है, अग्नि, सूर्य, चन्द्र तथा वायु जैसे प्रतिष्ठित देवों की भी अपनी अपनी अप्सरायें हैं*, और इन्द्र की कामातुरता के उदाहरण तो पुराणों की भाँति वैदिक साहित्य में भी भरे पड़े हैं†। काठक संहिता, २४ १ में स्त्रियों को संगीतज्ञ की वशवर्तिनी कहा गया है और देवों के संगीत पर ही मुग्ध होकर सुन्दरी वाग्देवी गन्धर्वों के पास से पुन लौट आती है।

जै० ब्रा० १२७ में, प्रतिदिन प्रात काल जराबोधीयम् साम गाकर ही, असित धामन की पुत्री का प्रेमी उसे अपने फन्दे में फँसाता है। अङ्गिरस, मरुत और उषा आदि विभिन्न देवी-देवियाँ भी संगीतज्ञ कहे गये हैं,‡ जिनमें से उषा सुन्दरी अपने जार सूर्य को रिझाने के अतिरिक्त प्रभात में ही मनुष्य, पशु और चिड़ियों तक को जगा देती है।+

इस उपर्युक्त गंध, मोद, प्रमोद और प्रणय की झलक 'कामायनी' में भी भली भाँति झलक रही है—

कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव, गीतों में स्वर लय का होता अभिसार।

सौरभ से दिगंत पूरित था
अन्तरिक्ष आलोक अधीर

---

* श० ब्रा० ६, ४, १, ७—१२।

† दे० हॉपकिन्स० जा० अ० ओ० सो० ३६, १९१७, पृ० २४१-२६८, बृहद्देवता।

‡ ऋ० ६, ६७, ६; १, ८९, २, १०; ४, ४६, १; १०, ११२, ६; १, ६९, ३, १२३, ६ आदि।

+ १, ४८ ५-६, ४६, ३; ६४, ६; ११३, ४-६, ८-६, १४ इत्यादि

सब में एक अचेतन गति थी
जिससे पिछड़ा रहे समीर !

वह अनंग पीड़ा अनुभव सा
अग भंगियों का नर्तन,
मधुकर के मरंद उत्सव सा
मदिर भाव से आवर्तन।

इसी अतीत प्रणय की स्मृति इन पंक्तियों में समाविष्ट है—

कुसुमित कुञ्जों में वे पुलकित
प्रेमालिंगन हुए विलीन
मौन हुई हैं मूर्छित तानें
और न सुन पड़ती अब बीन।

अब न कपोलों पर छाया सी
पड़ती मुख की सुरभित भाप,
भुज मूलों में, शिथिल वसन की
व्यस्त न होती है अब माप।

देवों की विलासिता उनके खानपान में भी कम नहीं है। देवों के पेय के मद, मधु, सोम आदि नाम हैं और उनके 'सधमादों' का उल्लेख प्रायः मिलता है*। अमर देवों के पीने का पात्र चमस है, जिनमें प्रधान देव-पान चमस है:—

---

* वा० सं० १०, ७; श० ब्रा० २, ३, २, ११, ऋ० वे० १०, १४, १०; ऋ० वे० ६, १२२, ४; ७, ११२, ३; ११४, ४; १८, २, ११ "सधमादः" का अर्थ पाश्चात्य विद्वानों ने "a joint banquet", 'a common entertainment, 'a party dinner' किया है; सु० क० सह तृप्तिर्यो वा यया भवति तथा मदंति—सायण

इममग्ने चमस मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।
एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ते

ऋ० १०, १६, ८ ।

सुपलाश वृक्ष पर देवों के साथ यम खूब पीते हैं (ऋ० १० १३५, १), इन्द्र के पेट में तो सोम के लिये सागर सा स्थान है (ऋ० १, ३०, ३) और वृत्र-वध के समय उसने सोम के तीन सरोवर पीलिये और तीन सौ भैंसे खा लिये.—

सखा सख्ये अपचत्तूयमग्निरस्य क्रत्वा महिषा त्री शतानि ।
त्री साकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद्वृत्रहत्याय सोमम् ।
त्री यच्छता महिषाणामघो मास्त्री सरांसि मघवा सोम्यापाः ।
कारं न विश्वे अह्वन्त देवा भरमिन्द्राय यदहिं जघान ॥

ऋ० ५ २९, ७, ८

'परम व्योम' में यम और वरुण मस्त रहते हैं (मदन्ति) और अंगिरस आदि देवों के साथ पितर भी आनन्द लेते हैं (अ० वे० १०, १४, ७, २, ६)। इस प्रकार के आहार और पान देवताओं को प्रिय होने के कारण उनके लिये यज्ञों में ऐसे ही पदार्थ प्रदान किये जाते हैं। अतः यज्ञों में सोम और नशीली वस्तुयें चढ़ाई जाती हैं (ला० श्रौ० सू० २ ४, ११, का० श्रौ० सू० १३ १, शां० श्रौ० सू० १२ १२, १४, १३, ५, श० ब्रा० ५, १ २, १२, ५, १ २०, २४, १२, ७, ३, १, १४, ८, १, १२, ७, ३, ८, आप० श्रौ० सू० १८, १, ६) ऋषि कक्षीवान् आदि सुरा की प्रशंसा करते हैं (ऋ० १, ११६, ३, १०, १०७ ६, ६, २, १२), वह यज्ञ को पवित्र करती है (श० ब्रा० १२, ८, १, १६)। पशुओं की बलि दी जाती है (का० श्रौ० सू० ब्र० ६, श० ब्रा० ३, ६, ४, ३, ८, १, २, १, ३, २, १४, ५, ३, १, १ ६, ३, २ १२ आ० गृ० सू० १, ११ पा० गृ० सू० ३, ११,

और पशु से प्राप्त होने वाले आज्य, आमिक्षा, वपा, मांस, लोहित, पशुरस आदि की भी आहुति दी जाती है (ऐ॰ ब्रा॰ २, ३, ६) और उनके तैयार करने तथा आहुति देने की विधियाँ भी विस्तार के साथ दी गई हैं (ऐ॰ ब्रा॰ १, १, १; २, १-६, २, ३, ६, २, ९-६; श॰ ब्रा॰ १, २, २; ला॰ श्रौ॰ सू॰ २, ४, २, आप॰ श्रौ॰ सू॰ १२, ३, १२, १२, ४, ३ १४, कौ॰ श्रौ सू॰ २, ३-६; तै॰ ब्रा॰ ३, २, ६) 'सौत्रामणि नामक देवसृष्ट इष्टि* में हत्या आदि पापों से बचने के लिये सुरा की आहुतियाँ दी जाती हैं। (श॰ ब्रा॰ १२, ८, १, ८; ५, ५, ४, १२, ७, १, १४)

मांस-भक्षण, पशुबलि और सुरापान के इन उल्लेखों को देखकर 'कामायनी' में देवों तथा देव सन्तान मनु का पशु-बलिदान, सोम तथा सुरा का सेवन यथार्थ प्रतीत होने लगता है और इन पान पान का उपयुक्त कामुकता से सम्बन्ध जोड़कर जब हम विचार करते हैं, तो श्रद्धा को सोम पिलाने का प्रयत्न करते हुए मनु वैदिक देव की प्रतिकृति मालूम पड़ते हैं —

> देवों को अर्पित मधु-मिश्रित
> सोम अधर से छूलो, (१३६, ४)

इस पृष्ठ भूमि में यज्ञ-स्थली का यह चित्र भी सहज ही कल्पित किया जा सकता है:—

> यज्ञ समाप्त हो चुका था तो भी
> धधक रही थी ज्वाला,
> दारुण दृश्य ! रुधिर के छींटे !
> अस्थि खण्ड की माला।

---

* देवसृष्टो वाऽएषेष्टिर्यत्सौत्रामणि श॰ ब्रा॰ ५, ५, ४, १४।

वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी
मिलकर वातावरण बना था
कोई कुत्सित प्राणी।
सोमपात्र भी भरा, धरा था,
पुरोडाश भी आगे।

कामायनी और वेदों में देवत्व

देव-सभ्यता के उपर्युक्त दो चित्रों में इतना साम्य होने पर भी कामायनी और वेदों के देवत्व में पर्याप्त भिन्नता सी प्रतीत होती है। कामायनी को पढ़ने से, देव जाति एक मनुष्य-जाति मालूम पड़ती है, जो अपनी शक्ति और समृद्धि के उन्माद में अपने को 'सर्ग के अग्रदूत' और अमर समझने लगी है। अतः नष्ट हुई देव-जाति पर अनुताप करते हुए मनु कह उठते हैं:—

'देव न थे हम' × × ×
× × ×
हाँ, कि गर्व-रथ में तुरंग सा
जितना जो चाहे जुतले। (३३, ४)

इसके अतिरिक्त कामायनी के देवों के सारे क्रिया-कलाप इसी मृत्यु-लोक में होते हैं और उन्हीं के द्वारा छोड़े हुए उपकरणों से मानव-सभ्यता का विकास करने के लिये श्रद्धा मनु से आग्रह करती है:—

देव असफलताओं का ध्वंस
प्रचुर उपकरण जुटाकर आज;
पड़ा है बन मानव सम्पत्ति,
पूर्ण हो मन का चेतन राज। (६६, २)

वैदिक साहित्य में भी यद्यपि देवलोग अधिकतर अमर, अविनाशी और सर्वशक्तिमान ही लगते हैं, परन्तु फिर भी कभी कभी उनकी नश्वरता और अमरत्व के लिये प्रयत्नशीलता का उल्लेख भी मिल जाता है। इस विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि देवों के दो वर्ग से किये गये हैं—एक वर्ग के लिये तो समष्टि-बोधक 'देवाः' शब्द आता है और दूसरे वर्ग के लिये, इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के व्यक्तिगत नामों का प्रयोग होता है। अतः कहा गया है कि देवता लोग पहले कभी मरा भी करते थे (अ० वे० ११, ५, १६; १४, ११, ६ श० ब्रा० १०, ४, ३३) और बाद में उन्होंने अमरत्व को प्राप्त किया (ऋ० वे० १०, ५३, १०; ४, ५४, २; वा० सं० ३३, ५४ इत्य०)। यही बात इन्द्र (ऐ० ब्रा० ८, १४, ४), अग्नि (ऐ० ब्रा० ३, ४) और प्रजापति आदि देवताओं तक के लिये भी कही गई है।

कामायनी में भी कदाचित् इन्हीं दो प्रकार के देवों के लिये कहा गया है 'देव न थे हम और न ये हैं', क्योंकि प्रसाद के मतानुसार विश्व देव, सविता, पूषा, सोम' आदि देव तो केवल 'प्रकृति के शक्ति-चिन्ह' ही हैं, और मनु की जाति के लोग केवल मनुष्य। इन सब का नियन्ता तो कोई और 'विराट' है:—

> वह विराट था हेम घोलता
> नया रंग भरने को आज,
> 'कौन ?' हुआ यह प्रश्न अचानक
> और कुतूहल का था राज।

> विश्व देव, सविता या पूषा
> सोम मरुत चंचल पवमान,
> वरुण आदि सब घूम रहे हैं
> किसके शासन में अम्लान ?

किसका था भ्रू-भंग प्रलय सा
जिसमें ये सब विकल रहे;
अरे प्रकृति के शक्ति चिन्ह ये
फिर भी कितने निबल रहे।

विकल हुआ सा काँप रहा था,
सकल भूत चेतन समुदाय;
उनकी कैसी बुरी दशा थी
वे थे विवश और निरुपाय।

देव न थे हम और न ये हैं, सब परिवर्तन के पुतले।
(३२, १; ३३, १-२)

कामायनी का यह विराट्, जिसके लिये "कौन ?" का अचानक प्रश्न होता है और जिसके शासन में सविता आदि देव कहे गये हैं, द्यावा-पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, आप. आदि देवों का जनक और नियामक वैदिक "कः" (कौन ?) देव से पूर्णतया मिलता है; और निम्न लिखित वैदिक मंत्र में लगभग वही भाव व्यक्त किया गया है, जो यहाँ प्रथम आठ पंक्तियों में किया गया है:—

ऋ० वे० १०, १२१: को देवता

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
सदाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृळहा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

यद्क्रन्दसी अवसा तस्तभाने
अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने
यत्राधि सूर उदितो विभाति
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

आपो ह यद्बृहती विश्वमायन्
गर्भंदधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्त्तासुरेकः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

मानो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या
यो वा दिवं सत्य-धर्मा जजान
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

प्रसादजी इस 'विराट' या 'कः' के व्यक्त विश्व में दो रूप मानते प्रतीत होते हैं– पहला 'शिव' जो जगत का कल्याण करता है; दूसरा रुद्र जो अतिचार और पाप का दण्ड देने के लिये अपनी संहारिणी शक्ति का प्रयोग करता है:—

उधर गगन में क्षुब्ध हुईं सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी
रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी,
अतिचारी था स्वयं प्रजापति देव अभी शिव बने रहें !
नहीं, इसीसे चढ़ी शिंजनी अजगव पर प्रतिशोध भरी ।

[१८३, २]

परन्तु, यदि वह विराट् सर्वव्यापक है तो उसे दोनों रूपों में सर्वत्र विद्यमान मानना पड़ेगा और पालन तथा संहार दोनों क्रियायें व्यक्त जगत में निहित उसकी शक्तियों द्वारा सम्पादित होने वाली मानी जा सकेंगी। इसका अभिप्राय यह होगा कि प्रत्येक जीव में और प्रकृति के प्रत्येक अङ्ग में दोनों शक्तियाँ और जो मानवी या प्राकृतिक शक्तियाँ आज जगत के कल्याण के लिये प्रयुक्त हो रही हैं वह कल संहार करने में लग सकती हैं। इसीलिये प्रसादजी ने मनु के विरुद्ध कोप इन्हीं दोनों (मानवी और प्राकृतिक) "देव-शक्तियों" (१६३, १-२) द्वारा दिखलाया है:—

प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने नृत्य विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना।
आश्रय पाने को सब व्याकुल, स्वयं कलुष में मनु संदिग्ध,
फिर कुछ होगा यही समझ कर वसुधा का थर थर कँपना।

× × ×

देखा उसने जनता व्याकुल राज द्वार कर रुद्ध रही,
प्रहरी के दल भी झुक आये उनके भाव विशुद्ध नहीं,
नियमन एक झुकाव दबा सा, टूटे या ऊपर उठ जाय।
प्रजा आज कुछ और सोचती अब तक जो अवरुद्ध रही।

अवश्य ही यदि यह विराट निराकार है तो उसकी शक्तियाँ 'प्रकृति' और 'उसके पुतलों' द्वारा ही सक्रिय हो सकती है, यह विभिन्नतामय जगत ही उसका मूर्तस्वरूप है, मर्त्य-स्वरूप है (तु० क० श० ब्रा० १०, १, ३, ४) जिसके द्वारा वह कर्म करता हुआ माना जा सकता है। मनु के ऊपर भी देव 'आग' ने अपनी 'ज्वाला' इन्हीं रूपों में प्रकट की—

तो फिर मैं हूँ आज अकेला जीवन रण में
प्रकृति और उसके पुतलों के दल भीषण में।

× × ×

येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृळ्हा
येन स्वः स्तभितं येन नाकः
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

यद्क्रन्दसी अवसा तस्तभाने
अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने
यत्राधि सूर उदितो विभाति
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

आपो ह यद्बृहती विश्वमायन्
गर्भंदधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्त्ततासुरेकः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

मानो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या
यो वा दिवं सत्य-धर्मा जजान
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

प्रसादजी इस 'विराट' या 'कः' के व्यक्त विश्व में दो रूप मानते प्रतीत होते हैं— पहला 'शिव' जो जगत का कल्याण करता है; दूसरा रुद्र जो अतिचार और पाप का दण्ड देने के लिये अपनी संहारिणी शक्ति का प्रयोग करता है:—

उधर गगन में क्षुब्ध हुई सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी
रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी,
अतिचारी था स्वयं प्रजापति देव अभी शिव बने रहें !
नहीं, इसीसे चढ़ी शिंजनी अजगव पर प्रतिशोध भरी ।

[१३३, २]

परन्तु, यदि वह विराट् सर्वव्यापक है तो उसे दोनों रूपों में सर्वत्र विद्यमान मानना पड़ेगा और पालन तथा संहार दोनों क्रियायें व्यक्त जगत में निहित उसकी शक्तियों द्वारा सम्पादित होने वाली मानी जा सकेंगी। इसका अभिप्राय यह होगा कि प्रत्येक जीव में और प्रकृति के प्रत्येक अङ्ग में दोनों शक्तियाँ और जो मानवी या प्राकृतिक शक्तियाँ आज जगत के कल्याण के लिये प्रयुक्त हो रही हैं वह कल संहार करने में लग सकती हैं। इसीलिये प्रसादजी ने मनु के विरुद्ध कोप इन्हीं दोनों (मानवी और प्राकृतिक) "देव-शक्तियों" (१६३, १-४) द्वारा दिखलाया है:—

प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने नृत्य विकम्पित पद अपना,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना।
आश्रय पाने को सब व्याकुल, स्वयं कलुष में मनु सदिग्ध,
फिर कुछ होगा यही समझ कर वसुधा का थर थर कँपना।
× × ×
देखा उसने जनता व्याकुल राज द्वार कर रुद्ध रही,
प्रहरी के दल भी झुक आये उनके भाव विशुद्ध नहीं,
नियमन एक झुकाव दबाता, टूटे या ऊपर उठ जाय।
प्रजा आज कुछ और सोचती अब तक जो अवरुद्ध रही।

अवश्य ही यदि वह विराट निराकार है तो उसकी शक्तियाँ 'प्रकृति' और 'उसके पुतलों' द्वारा ही सक्रिय हो सकती है, यह विभिन्नतामय जगत ही उसका मूर्तस्वरूप है, मर्त्य-स्वरूप है (शु० क० श० अ० १०, १, ३, ४) जिसके द्वारा वह कर्म करता हुआ माना जा सकता है। मनु के ऊपर भी देव 'आग' ने अपनी 'ज्वाला' इन्हीं रूपों में प्रकट की —

तो फिर मैं हूँ आज अकेला जीवन रण में
प्रकृति और उसके पुतलों के दल भीषण में।
× × ×

यों कह मनु ने अपना भीषण अस्त्र सम्हाला।
देव आग ने उगली त्योंही अपनी ज्वाला।
(२०८, १-२)

इन्हीं शक्तियों के सामूहिक रूप को ही लेकर आगे चलकर कवि ने 'रुद्र नाराच भयंकर' की कल्पना की है:—

धूमकेतु सा चला रुद्र नाराच भयंकर
लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।
अन्तरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।
और गिरीं मनु पर, मुमुर्षु वे गिरे वहीं पर,
रक्त नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर
(२१०, १-२)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कदाचित् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कामायनी में देव शब्द एक तो मनुष्यों की 'देव-जाति' के लिये प्रयुक्त हुआ है, दूसरे प्रकृति-शक्तियों के लिये और इन सब का नियामक तथा इन सब को निमित्त बनाकर कर्म करने वाला कोई और 'विराट्' है, वही वास्तव में अमर है, और ये दोनों तो परिवर्तन के पुतले हैं।

(२) असुरत्व

कामायनी की देव सभ्यता में असुरत्व

देवों और देव सभ्यता के विषय में, ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें बहुत सी ऐसी बातें आगई हैं जो लौकिक और शास्त्रीय दृष्टि से दैवी न होकर आसुरी हैं; कामुकता, पशु-हिंसा, सुरापान, अहंकार

इत्यादि देवोचित गुण नहीं। श्रीमद्भगवद्गीता में अन्य गुणों के साथ दम, तप, अहिंसा, दया, अलोलुपता, मृदुता अचपलता, शौच और अभिमानिता के अभाव को भी दैवी सम्पत्ति में गिनाया है (१६, १–३) अहिंसा ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह शौच, सन्तोष तथा तप की यमों और नियमों में गणना होती है (योग साधनपाद सू० ३०, ३२), वेदों ने ब्रह्मचर्य तप आदि से देवताओं को भी अमरत्व की प्राप्ति होना बतलाया है (ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत, अ० वे० ११, ५, १९ और दे० ऋ० वे० १०, १६७, १, तै० ब्रा० ३, १२, ३, १, श० ब्रा० १०, १, ३१, तै० सं० १ ७ १२, ६ ४, ३, १ आदि), मनुस्मृति में अहिंसा, ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-संयम को आवश्यक तो कहा ही है (२, ८८, ४, १४६, १६०, ५, १०८–१०६, २, १२), साथ ही यहाँ तक कह डाला है कि —

> वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च
> न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् (२, ९७)

इसीलिये प्रसादजी ने कामुकता, पशुहिंसा, सुरापान, अहंकार आदि अदेवोचित विशेषताओं से युक्त देव-सभ्यता को 'देव-दम्भ' कहा है (देव दम्भ के महा मेध में सब कुछ ही बन गया हविष्य १२, ३) और मनु को भी उनके अपने ही शब्दों में अमरता का दम्भ बतलाया है —

> आज अमरता का जीवित हूँ
> मैं वह भीषण जर्जर दम्भ
> आह सर्ग के प्रथम अङ्क का
> अधम पात्र मय सा विष्कम्भ। (२६ १)

वास्तव में देव-सभ्यता का यह अदेवोचित वासना प्रधान रूप ही कहा जा सकता है और सम्भवतः प्रसादजी ने इसके लिये 'दम्भ' शब्द

का प्रयोग जानबूझकर श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की 'आसुरी सम्पति' की ओर संकेत करने के लिये किया है। क्योंकि वहाँ भी संक्षेप में आसुरी गुण दिखलाते हुए सब से पहिले 'दम्भ' की गणना की गई हैः—

> दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च
> अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।
> (१६, ४)

सच्ची देव-सभ्यता

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि 'कामायनी' की जो सभ्यता जलप्लावन में नष्ट होगई, वह असुरत्व-विशिष्ट देव-सभ्यता थी, शुद्ध देवत्वपूर्ण नहीं।

शुद्ध देव-सभ्यता का सूत्रपात लेखक ने देव-दम्भ से निर्विरण तथा अपने और प्रकृति-शक्तियों के देवत्व में विश्वास खोये हुए मनु (दे॰ १२–१६) द्वारा कराया है। तत्पश्चात्‌ 'प्रकृति के शक्ति-चिन्हों' तथा अपनी देव-जाति के मिथ्याभिमान को दूर फेंक कर वे कहते हैं कि 'इस महानील परमव्योम और अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान ग्रह-नक्षत्र और विद्युत्‌कण, किसका संधान करते से, आकर्षण में खिंचे हुए, छिप जाते और निकलते हैं? किसके रस से सिंचे हुए तृण, वीरुध लहलहे हो रहे हैं? किसकी सत्ता सिर नीचा कर सब यहाँ स्वीकार करते हैं? और सदा मौन हो जिसका सब प्रवचन करते हैं वह अस्तित्व कहाँ है?" इसी प्रकार का यह चिन्तन 'अनन्त रहस्य' की कल्पना तक पहुँच जाता है और मनु को "उसको" कुछ "भाव" होने लगता हैः—

> हे अनन्त रमणीय! कौन तुम?
> यह मैं कैसे कह सकता।
> कैसे हो? क्या हो? इसका तो
> भार विचार न सह सकता।

हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान। (३१, ४-९)

जगन्नियंता एक देव की कल्पना के पश्चात् उन्हें 'अपने' 'आत्म-भाव' का बोध हुआ (३९, ७) और वे पाक-यज्ञ का निश्चय करके, वृक्षों की शुष्क डालियों और शालियों से अग्निहोत्र करने लगे, और यज्ञ से बचे हुए अन्न को किसी अपरिचित अज्ञात अतिथि की तृप्ति के लिये दूर रखने लगे —

पाक-यज्ञ करना निश्चित कर
लगे शालियों को चुनने;
उधर वह्नि ज्वाला भी अपना
लगी धूम पट थी बुनने।

शुष्क डालियों से वृक्षों की
अग्नि अर्चियाँ हुईं समिद्ध,
आहुति की नव धूम गंध से
नभ कानन होगया समृद्ध।

और सोचकर अपने मन में,
जैसे हम हैं बचे हुए
क्या आश्चर्य और कोई हो
जीवन लीला रचे हुए।

अग्नि होत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे,
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे।

इस प्रकार ईश्वर-विश्वास, सहानुभूति और अहिंसा के साथ यज्ञ करते हुए,

तप में निरत हुए मनु, नियमित
कर्म लगे अपना करने। (२१-२)

और धीरे धीरे वे "तप में संयम का संचित बल" प्राप्त कर सके। यह भी एक 'अमरता के पुतले' की सम्यता है, एक देव-सन्तान का कार्य-कलाप और इसीको और अधिक स्पष्ट रूप में श्रद्धा मनु के सामने रखती है:—

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत करलो
सब को सुखी बनाओ।
रचना-मूलक सृष्टि-यज्ञ यह
यज्ञ-पुरुष का जो है
संसृति सेवा-भाग हमारा
उसे विकसने को है।

उदारता, पर-दुख-कातरता, यज्ञ की रचना-मूलकता तथा सेवा-भाव पूर्णतया वैदिक हैं। ऋग्वेद का सिद्धान्त है, "केवलाघो भवति केवलादी" (१०, ११७, ६), और वह हिंसा (१, ४१, ८) दुर्वचन (१, ४१, ८), प्रवंचना (२, २७, १६; ७, ६१, ३; ८, ४१, २) द्यूत (२, २९, ५), सुरापान, क्रोध और पाँसा खेलने (७, ८६, ६) को पाप मानता है। पारस्परिक व्यवहार में सदाचार का स्थान इतना ऊँचा था कि ऋग्वैदिक ऋषि वरुण से न केवल मित्र, साथी, भाई और सजातीय के प्रति किये गये पापों के लिये क्षमा-याचना करता है, अपितु उन पापों के लिये भी जो शत्रु के प्रति किये गये हों अथवा जो ज्ञात भी न हों (ऋ० ५, ८५, ७-८)। पुरुष सूक्त का पुरुष-यज्ञ, जिसके आधार पर सारे वैदिक यज्ञ स्थित मालूम पड़ते हैं (दे० ए० बी० कीथ० फ़ि० वे० उ० प्रथम अ० और श० ब्रा० १, ३, २, १; ३, १,

४, २३; की १७, ७; २५, ११; २८, ६; श० ब्रा० १, ३, २, १; ३, २, ३, १; तै० ३, ८, २१; श्रौ० १, ४, २४; २, ६, १ इत्यादि) यथार्थतः रचनामूलक ही है और ऋग्वेद में सोम, मधु, दुग्ध और कभी यव आदि की पक्ति के अतिरिक्त पशु-बलि आदि का उल्लेख कहीं नहीं मिलता; वहाँ पर पाक-यज्ञ को अन्न-सोम-यज्ञ का ही पर्याय मानना पड़ेगा। इसी परम्परा को लेकर, ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ऋण' और 'यज्ञ' की कल्पना की गई मालूम पड़ती है— 'ऋणोह जायमान एव' मनुष्य ऋण से लदा हुआ जन्म लेता है और जो कुछ वह देवों, पितरों, मनुष्यों आदि के प्रति करता है, वह उनके प्रति उपकार नहीं, अपितु अपने को ऋण से मुक्त होने के लिये ही उपाय करता है (तै० आ० २, १०; २, ३-४; श० ब्रा० १, १, २, १६; १; ७, २१-२ इत्यादि) सब से अधिक मार्के की बात यह है कि देव, ऋषि, पितृ और मनुष्य के प्रति देय ऋणों में से मनुष्य-ऋण सब से बड़ा माना गया है, जिसको सेवा द्वारा चुकाने से अन्य सभी ऋण (एतानि सर्वाणि) चुक जाते हैं (श० ब्रा० १, ७, २, ५)। अतः पुरुष-सूक्त में '*यज्ञ पुरुष*' ने ऋषि-यज्ञ में आत्म-बलिदान द्वारा सारी सृष्टि करके यज्ञ की रचना-मूलकता की जो नींव डाली थी, उसी के विकास के लिये संसृति-सेवा-भाव-युक्त मनुष्य-यज्ञ-प्रधान 'ऋण' और 'यज्ञ' का क्रियात्मक दर्शन कितना स्पष्ट और दिव्य प्रतीत होता है। इसी को संक्षेप में, प्रसादजी ने, जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, इस प्रकार कहा है—

रचना-मूलक सृष्टि यज्ञ यह
यज्ञ-पुरुष का जो है
संसृति-सेवा-भाग हमारा
उसे विकसने को है।

यही वास्तविक देव-सभ्यता है; यही दैवी-सम्पति-समन्वित आचार है, यही आर्य-जाति की आदर्श सात्विक वृत्ति है, जिससे देवत्व प्राप्त होता है:—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः

मनु० १२, ४०

असुर-सभ्यता (कामायनी में)

जल-प्लावन द्वारा नष्ट हुई देव-सभ्यता में जो देव-दम्भ या असुरत्व देखा गया है वह देव-सभ्यता के शुद्ध-रूप को देखने से और अधिक स्पष्ट हो जाता है। परन्तु, प्रश्न यह होता है कि यह असुरत्व देव-सभ्यता में आया कैसे ?

इसके उत्तर के लिये, जल-प्लावन से पूर्व की देव-सभ्यता में 'दम्भ' प्रविष्ट होने का तो प्रत्यक्ष कोई कारण कामायनी में दिया नहीं है, परन्तु तप और संयम के साथ अहिंसा-व्रत का पालन करते हुए शालियों और शुष्क समिधाओं से पाक-यज्ञ करने वाले मनु के पुनः दम्भ, दर्प और असंयम की ओर जाने का कारण अवश्य दिया है, जिससे पहली घटना का कारण भी अनुमान किया जा सकता है। यह कारण है असुरों का प्रभाव:—

"असुर पुरोहित किलात और आकुली उस विप्लव से बचकर भटक रहे थे, उन्होंने अनेक कष्ट सहे थे। मनु के पशु को देख देखकर व्याकुल और चंचल रहने वाली उनकी आमिष-लोलुप-रसना औरों से कुछ कहती थी। एक दिन आकुली बोला— "क्यों किलात ! तृण खाते खाते और कहाँ तक देखूँ और बेबसी में लोहू का घूँट पीता रहूँ। क्या इसका कोई उपाय ही नहीं कि इसको खाऊँ ? बहुत दिनों पर एक बार तो सुख की बीन बजाऊँ !" आकुलि ने तब कहा, "देखते नहीं, उसके साथ में एक मृदुलता की, ममता की छाया हँसती हुई रहती है। वह आलोक-किरण सी अन्धकार को दूर भगाती है, जिसके हलके बल से मेरी माया छिप जाती है। तो भी चलो, आज कुछ करके ही स्वस्थ रहूँगा; जो भी सुख-दुख आवेंगे, उनको सहज सहूँगा" (११६, १-२; ११७, १-४)

यों ही विचार कर दोनों उस कुन्ज-द्वार पर आये, जहाँ ध्यान लगाये मनु सोचते बैठे थे—'यज्ञ कर्म से जीवन के स्वप्नों का स्वर्ग मिलेगा, इसी विपिन में मानस की आशा का कुसुम खिलेगा। किन्तु पुरोहित कौन बनेगा ? अब यह नया प्रश्न है ! किस विधान से यज्ञ करूँ ! यह पथ किस ओर गया है ! श्रद्धा मेरी वह पुण्य प्राप्य अनन्त अभिलाषा है; इस निर्जन वन में, मेरी आशा अब किसको पुरोहित होने के लिये खोजे" (१२१, १–३)

यह सुनते ही, असुर मित्रों ने अपना मुख गम्भीर बनाये हुए कहा—'जिनके लिये यज्ञ होगा, हम उनके भेजे हुए आये हैं। क्या तुम यजन करोगे ? फिर यह किसे खोज रहे हो ? अरे पुरोहित की आशा में, तुमने कितने कष्ट सहे हैं। जिनसे निशीथ और सवेरा प्रकट होते हैं, यह आलोक और अँधेरा जिनकी छाया है, इस जगती के वे ही 'मित्र वरुण' पथ-दर्शक हों, मेरी सब विधि पूरी होगी। चलो आज फिर से वेदी पर ज्वाला की फेरी हो। (१२२, १–४)'

•'फिर क्या था ?' नूतनता का लोभी मनु नाच उठा। यज्ञ-भूमि बीभत्स श्मशान-भूमि बन गई। 'यज्ञ समाप्त हो चुका, तो भी ज्वाला धधक रही थी। ओह दारुण दृश्य ! रुधिर के छींटे ! अस्थिखण्ड की माला ! वेदी की निर्मम प्रसन्नता और पशु की कातर वाणी ! याता-वरण कोई कुत्सित प्राणी बना हुआ था। सोम-पात्र भी भरा हुआ धरा था और पुरोडाश भी आगे था (१२३, ५; १२४, १–३) पुरोडाश के साथ मनु सोम का पान करने लगे, प्राण के रिक्त अंश को मादकता से भरने लगे (१२२, ६)। मनु को अब मृगया छोड़ और अधिक काम नहीं रह गया था, हिंसा ही नहीं, उसका अधीर मन कुछ और भी खोज रहा था (१२७, २–३)'

इस प्रकार मनु ने किलात और आकुलि के प्रभाव में आकर हिंसक तामसी वृत्ति को ग्रहण किया, 'रत-भावना' को अपनाया,

ईर्ष्या-द्वेष को अपने में स्थान दिया, स्वेच्छाचार और व्यभिचार की ओर कदम बढ़ाया।

असुर पुरोहितों का यह वचन कि 'असो आज फिर से वेदी पर ज्वाला की फेरी हो' सूचित करता है कि सम्भवतः जल-प्लावन से पूर्व देव-दम्भ के भी कारण ये ही लोग रहे होंगे।

असुर-सभ्यता (वेदों में)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ऋग्वेद के समय में पशु-बलि आदि क्रूर कर्मों का उल्लेख नहीं मिलता; बाद में अथवा उस समय भी जो प्रमाण मिलते हैं, सम्भवतः यह भी असुर-सभ्यता का प्रभाव है। अतः सर्वत्र निषिद्ध पदार्थ सुरा की प्रशंसा करने वाले कक्षीवान ऋषि (ऋ० वे० १, १२६, ११६) उशिज् के पुत्र असुर हैं (उशिज्= उशन्, दे० वेल्नेस्कर, क्रिश्चियन पुत्र, पृ० १२२; गेल्डनेर भाष्य, ऋ० वे० १, ११०, ६); कक्षीवान के पुत्र सुकीर्ति काक्षीवत् केवल ऋ० १०, १३१ के ऋषि हैं, परन्तु वहाँ भी अपनी असुर-परम्परा के अनुसार, अश्विन को नमुचि असुर के साथ सुरापान करते हुए बतलाते हैं:—

> युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा
> विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम्।
> पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
> यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्
>
> १०, १३१, ४-५

कुछ विद्वानों का तो मत है कि सुरा पीने वाले देवता अश्विन् को भी पहले देवताओं में अच्छा स्थान प्राप्त नहीं था (दे० वै० मा० पृ० ४१-४२ मु० क०); सम्भव है कि इसका कारण उनका आसुरी सम्बन्ध हो, क्योंकि उनके लिये सुरा के अतिरिक्त लोहित मज्जा का

भी उल्लेख मिलता है। (श० ब्रा० ५, २, ४, १), इन्द्र के वृषभ बनने का वर्णन भी कक्षीवान् ऋषि के शिष्य वसुक (द्र० ऋ० १०, २६, १०) ऋषि के सन्य में आता है (ऋ० १०, २८, २)। इन्द्र के द्वारा महिष मारने तथा तीन सरोवर सोम पीने का प्रकरण भी महासुर वृत्र की हत्या में आता है और उसका सम्बन्ध उशना (ऋ० ५, २६, ८२) से भी मालूम पड़ता है, जो अवश्य ही असुरों के पुरोहित थे और जिनको प्राप्त करने के लिये इन्द्र को अनेक प्रयत्न करने पड़े (तै० उ० २, ७, २, ता० ७, ५ २०, १४, १२, ५) थे। सुरापान प्रधान सौत्रामणी यज्ञ को अपवित्र और अब्राह्मण कर्म माना जाता था, अतः उसको पवित्र तथा ब्राह्मण यज्ञ सिद्ध करने के लिये अनेक प्रमाण बनाये जाते थे (तु० क० अस्मादव ब्राह्मण यज्ञ एव यत्सौत्रामणी श० १२, १, १, १; पवित्रं वै सौत्रामणी श० १२, ८, १, ८) इस यज्ञ की उत्पत्ति, नमुचिमहार या वृत्र वध से होने वाली ब्रह्महत्या से इन्द्र की रक्षा करने के लिये हुई मानी जाती है (श० ५, ५, ४, १२ १२, ६, १, १; १२, ७, ३, ४ वृहद्देवता), सम्भवतः असुर पुरोहित उशना ने अपनी सेवाओं के बदले में, अपने असुर योद्धाओं को ब्राह्मण बतलाकर और सौत्रामणी में सुरापान प्रतिष्ठित करवाकर विजेताओं पर अपनी सांस्कृतिक विजय प्राप्ति करने के लिये प्रयत्न किया था, क्योंकि अन्यथा आर्य-जाति सुरा को सदैव अशिव मानती रही है (अशिव इव वाऽएषभक्षो यत्सुरा ब्राह्मणस्य श० १२, ८ १, ५)

सांस्कृतिक विजय के लिये किये गये विजित असुरों के प्रयत्न-स्वरूप ही आर्य-सभ्यता में अनेक आसुरी बातें आगई मालूम पड़ती हैं। जिन पाक-यज्ञों में पहले केवल अन्नादि के यज्ञों की गिनती होती थी, उनमें अब न केवल पशु-यज्ञ गिना जाने लगा (सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्चयः । बलिश्चपितृयज्ञश्चाष्टका सप्तम पशुरित्येते पाकयज्ञा गो० १ ५, २, ३), अपितु केवल पशुयज्ञों का ही पाकयज्ञ कहने लगे (पशव्यो हि पाकयज्ञ श० २, ३, १, २१) श्येनादिक

५, ४, २ अभिमांसश्चिव हि सुरां पीत्वा वदति श० १, ६, ३, ४ ५.
२, ४, २ इत्यादि)। यज्ञ में उसके स्थान पर भी सूर्यों आदि के रस के प्रयोग का विधान किया गया है (अपां च वाऽएष ओषधीनां च रसो यत्सुरा श० १२, ८, १, ४ तु० क० १२, ७, १, ७, सं० ब्रा० ८, ८ इत्यादि) यज्ञ में हिंसा के विरुद्ध तो यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ में पशु को मारना यज्ञ का हनन करने के समान है और इस प्रकार का यज्ञ कुछ भी फल नहीं देता (घ्नन्ति वाऽएतद्यज्ञं यदेनं तन्वते। यद्वेव राजानमभिषुण्वन्ति तत्तं घ्नन्ति·······एष यज्ञो हतो न ददक्षे, शु० ब्रा० ३, १, ६, १–२)

कामायनी में देवों और असुरों का यह सांस्कृतिक संघर्ष भली-भाँति दिखाया गया है। इसका प्रारम्भ मनु के पास किलात और आकुलि के आगमन से हो जाता है। मनु इन दोनों को अपना पुरोहित बना लेता है। इस घटना का उल्लेख ब्राह्मणों में भी है (किलाता-कुली इतिहासुर ब्रह्माणौ-सुतः। तौ होचतुः—श्रद्धादेवो वै मनुः—आवां नु वेदाविति। तौ हागत्योचतुः—मनो। याजयाव त्वेति), परन्तु कवि अपनी कल्पना के सहारे इस घटना पर एक वास्तविक संघर्ष की नींव डाल देता है—मनु पर असुरों की सांस्कृतिक विजय हो जाती है, पर संस्कृति की वास्तविक रक्षिणी श्रद्धा है; श्रद्धा इस असुरत्व का विरोध करती है, मनु के यज्ञ में सम्मिलित नहीं होती है। "सोम-पान और मांस-भक्षण करने से मनु में 'तरल-वासना' जाग उठी और वह श्रद्धा को 'मधु-मिश्रित सोम' पिलाने तथा अपनी वासना का उसे शिकार बनाने गया।"

इस समय जो दोनों में सम्वाद होता है, उसमें देवासुर-संघर्ष स्पष्ट अंकित होता है। श्रद्धा देव-सभ्यता की प्रतिनिधि अहिंसा का पक्ष लेती है प्रत्येक प्राणी के जीवन-अधिकार पर जोर देती है:—

और किसी की फिर माँग होगी
किसी देव के नाते,
कितना धोखा! उससे तो हम
अपना ही सुख पाते।
ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अचला जगती के,
उनके कुछ अधिकार नहीं क्या
वे सब ही हैं फीके!
मनु! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो;
हन्त! बची क्या शवता!

परन्तु असुरत्व का प्रतिनिधि, स्वार्थ को ही परम पुरुषार्थ मानने वाला मनु, इन्द्रिय-सुख पर अधिक जोर देता है और "अपने-सुख" को ही स्वर्ग समझता है।—

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब कुछ है।
इन्द्रिय की अभिलाषा जितनी
सतत सफलता पावे,
जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि
मधुर मधुर कुछ गावे
रोम हर्ष हो उस ज्योत्स्ना में
मृदु मुस्क्यान खिले तो,

आशाओं पर प्राण निछावर
होकर गले मिले तो।
विश्व माधुरी जिसके सम्मुख
मुकुर बनी रहती हो,
वह अपना सुख स्वर्ग नहीं है।
यह तुम क्या कहती हो?

मनु द्वारा जो यह आत्म-सुखवाद या स्वार्थवाद व्यक्त किया गया है वह असुरों का अपना है। उनके विषय में प्रायः कहा जाता है कि वे अपने में ही हवन करते हैं (स्व असुराः स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः श० ११, १, ८, १, तु० क० ६, ६, १६ इत्यादि) असुर-सभ्यता की विशेषता दिखलाने के लिये छा० उ० ८, ७-१० में उल्लिखित एक आख्यायिका की ओर संकेत कर देना यहाँ अनुचित न होगा:—

प्रजापति ने अपने असुर और देव पुत्रों से कहा कि आत्मा अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, विजिघित्स, अपिपास, सत्य-काम और सत्य-संकल्प है; उसको जान लेने से सब लोकों की प्राप्ति हो जाती है, सब कामनाओं की तृप्ति हो जाती है। भला ऐसी वस्तु को जानने के लिये कौन प्रयत्न न करता? देवों की ओर से इन्द्र और असुरों की ओर से विरोचन आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रजापति के पास गये। कई वर्षों तक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने के पश्चात् वे उपदेश के अधिकारी हुए। प्रजापति ने कहा, "जो यह आँख में पुरुष दिखलाई पड़ता है यही आत्मा है।" दोनों ने अलंकृत होकर अपने को जल में देखा, प्रजापति ने कहा, तुमने जो देखा वही आत्मा है। दोनों सन्तुष्ट होकर चले गये। इन्द्र को मार्ग में शङ्का हुई और वह लौट आया परन्तु विरोचन असुरों के पास शान्त-हृदय पहुँचा, उसने शरीर को ही आत्मा समझा था। अतः सब असुरों से कहा कि इसी का

पालना-पोसना परमधर्म है, इसी से दोनों लोकों की प्राप्ति होगी, दान, श्रद्धा, यज्ञ आदि की कोई आवश्यकता नहीं। असुर तदनुसार करने लगे (शान्त हृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम। तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति। तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधान मयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणां ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति संस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुम लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते) इसी को प्रसादजी ने "था एक पूजता देह दीन" कहकर व्यक्त किया है।

असुर पुरोहितों के प्रभाव से मति-भ्रष्ट हो जाने से, मनु भी यहाँ इसी प्रकार के देहवादी आत्मवाद का प्रतिपादन करते हुए जान पड़ते हैं। श्रद्धा देव प्रतिनिधि की भाँति सूक्ष्म दृष्टि से विचार करती है और मनु का खण्डन बड़ी तत्परता से करती है।—

> क्या जान यह भाव सृष्टि ने,
> फिर से आँखें खोली !
> भेद बुद्धि निर्मम ममता की,
> समझ बची ही होगी।
> प्रलय पयोनिधि की लहरें भी,
> लौट गई ही होंगी।
> अपने में सब कुछ भर कैसे,
> व्यक्ति विकास करेगा ?
> यह एकान्तस्वार्थ भीषण है,
> अपना नाश करेगा।
> औरों को हँसते देखो मनु,
> हँसो और सुख पाओ।
> अपने सुख को विस्तृत करलो,
> सब को सुखी बनाओ।

'अपने सुख को विस्तृत करके- सब को सुखी बनाओ' का भाव ही देव-सभ्यता की मुख्य देन है; इसी को वैदिक ऋषि 'केवलाघो भवति केवलादी'' के रूप में व्यक्त करता है; गीता उसी की प्रतिध्वनि करता सा कहता है:—

भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्

यही लोक-मङ्गल और लोक-संग्रह की भावना आर्य-संस्कृति की विशेषता है; इसी की रक्षा करना मानवता और हिन्दुत्व के लिये परमावश्यक है। प्रसादजी ने इसी बात पर जोर देने के लिये कदाचित देवासुर-संग्राम का यह प्रसंग यहाँ रक्खा है; इसी सत्य को वे कवि-सुलभ कलात्मकता के साथ कितने सुन्दर शब्दों में श्रद्धा द्वारा व्यक्त कराते हैं:—

सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे,
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुख मोड़ोगे।
ये मुद्रित कलियाँ दल में सब
सौरभ बन्दी करलें।
सरस न हो मकरन्द-बिन्दु से
खुलकर तो यह भरलें।
सूखें, झड़ें और तब कुचले
सौरभ को पाओगे।
फिर आमोद कहाँ से मधुमय
वसुधा पर लाओगे।
सुख अपने सन्तोष के लिये
संग्रह मूल नहीं है।

उसमें एक प्रदर्शन जिसको
देखें अन्य वही है।
निर्जन में क्या एक अकेले,
तुम्हें प्रमोद मिलेगा ?
नहीं इसी से अन्य हृदय का
कोई सुमन खिलेगा।
सुख समीर पाकर चाहे हो
वह एकान्त तुम्हारा।
बढ़ती है सीमा संसृति की
बन मानवता धारा।

(ग) दांपत्य-जीवन

पति-पत्नी में इ प्रकार का सांस्कृतिक संघर्ष सुखप्रद नहीं हो सकता। मनु की बढ़ती हुई इन्द्रिय-लोलुपता और विषय-वासना को गर्भिणी श्रद्धा के वात्सल्य-भाव तथा व्यापक प्रेम से ठोकर लगी, ईर्ष्या का उदय हुआ। वह चाहता है श्रद्धा उसी की तरह रहे। विलायत से लौटे हुए पाश्चात्य सभ्यता के उपासक, आधुनिक पति की भाँति वह अपनी पत्नी को 'तकली कातते' या 'बीन-बीनते' नहीं सहन कर सकता, वह केवल पति कहलाने से ही सन्तुष्ट नहीं है —

वह आकुलता अब कहाँ रही
जिसमें सब कुछ ही जाय भूल;
आशा के कोमल तंतु सदृश
तुम तकली में हो रही फूल।
यह क्यों क्या मिलते नहीं तुम्हें
शावक के सुन्दर मृदुल चर्म
तुम बीज बीनती क्यों ? मेरा
मृगया का शिथिल हुआ न कर्म।

तिस पर यह पीलापन कैसा
यह क्यों बुनने का श्रम सखेद ?
यह किसके लिये बताओ तो
क्या इसमें है छिप रहा भेद ?"

श्रद्धा मानो हिंसा से ऊब उठी है; वह मनु के इन वचनों में केवल हिंसा की ही बू पाती है और वह उसी का विरोध करने लगती है:—

अपनी रक्षा करने में जो,
चल जाय तुम्हारा कहीं अमर।
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं,
हिंसक से रक्षा करे शस्त्र।
पर जो निरीह जीकर भी कुछ,
उपकारी होने में समर्थ;
वे क्यों न जियें; उपयोगी बन,
इसको मैं समझ सकी न अर्थ।
चमड़े उनके आवरण रहें,
ऊनों से मेरा चले काम;
वे जीवित हों मांसल बनकर,
हम अमृत देह वे दुग्ध धाम।
वे द्रोह न करने के स्थल हैं,
जो पाले जा सकते सहेतु,
तो भव जलनिधि में बने सेतु।

परन्तु इस मनु यह उपदेश सुनना नहीं चाहता था, वह तो श्रद्धा से कह रहा था:—

यह जीवन का वरदान मुझे
दे दो रानी अपना दुलार,

केवल मेरी ही चिन्ता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।

श्रद्धा इसके उत्तर में, "मैंने जो एक बनाया है, चलकर देखो मेरा कुटीर" कहकर मनु का हाथ पकड़ कर ले चली, परन्तु जो कुछ मनु ने देखा-सुना, उसने अग्नि में घृत का काम किया और उसकी ईर्ष्या भभक उठी.—

यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिये मुझे मेरा ममत्व।
इस पंच भूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्व।
तुम दानशीलता से अपनी
बन सजल जलद वितरो न विन्दु;
उस सुख नभ में विचरूँगा
बन सकल कलाधर शरद इन्दु।

भौतिक सुखवाद के नशे में चूर मनु श्रद्धा की आत्मा को न पा सके, उन्होंने सदैव उसकी 'सुन्दर जड़देह मात्र' ही पाई। वे सौन्दर्य-जलधि से केवल अपना गरल-पात्र ही भरते रहे; "तुम मेरा हो", इसी संकुचित पूर्णता में पड़े रहे (१०१, १) क्योंकि सुख-साधन में बीतने वाले क्षणों को ही वास्तविक मानकर वे वासना तृप्ति को ही स्वर्ग मानते थे। पुरुषत्व मोह में वे यह भूल गये कि नारी की भी अपनी सत्ता है, तथा अधिकारी और अधिकार में समरसता का सम्बन्ध है (१७०, १)। अत. दोनों का संयोग कैसे रह सकता था; देवासुर-संघर्ष ने दाम्पत्य-जीवन नष्ट करा दिया; मनु श्रद्धा को छोड़ते हुए बोले—

तो चला आज मैं छोड़ यहीं
सचित संवेदन भार पुंज।

तुमको काँटे ही मिले धन्य
हो सफल तुम्हें ही कुसुम कुञ्ज।

(घ) राजनीतिक जीवन में

"हो शाप भरा तव प्रजातन्त्र"

जो असुर-संस्कृति को अपनाकर दाम्पत्य-जीवन को ही सुखी न बना सका और जो श्रद्धा जैसी नारी के हृदय पर ही साम्राज्य न कर सका, वह भला प्रजा-शासन में कैसे सफल हो सकता है। पारिवारिक जीवन सहकारिता और नागरिकता की पहली सीढ़ी है। मनु को पहले ही शाप मिलता है कि "हो शाप-भरा तव प्रजातन्त्र", अभिशाप-ध्वनि कहती है:—

हाँ अब तुम स्वतन्त्र बनने के लिये, सब कलुष औरों पर डाल-अपना अलग तन्त्र रचते हो; डाली में कंटक के समान नवीन कुसुम भी खिलते-मिलते हैं; तुम अपनी रुचि से जिसको चाहते हो उसी को पीने दे रहे हो—तुमने प्राणमयी ज्वाला का प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया, तुमने जलन और वासना को ही जीवन में स्थान दिया (१७१, २); अच्छा तो तुम्हारी अभिनव मानव प्रजा-सृष्टि द्वयता में लगी हुई निरन्तर वर्णों की सृष्टि करती रहे, अनजान समस्याओं को गढ़ती हुई अपनी ही विनष्टि करती रहे; अनन्त कोलाहल और कलह-पचे, एकता नष्ट हो, भेद-भाव बढ़े; अभीष्ट वस्तु के स्थान पर अनिश्चित दुखद खेद ही की प्राप्ति हो; अपने वक्षस्थल की जड़ता का आवरण हृदयों पर पड़ा रहे और परस्पर एक दूसरे को न पहचान सकें; पास में सब प्रकार की बाहुल्यता होते हुए भी सन्तुष्टि कोसों दूर रहे यह संकुचित दृष्टि सदा सुखदाई हो (१७२, १)

कितनी ही अनवरत उमंगें उठें; मनुष्य तृष्णा-ज्वाला का पतङ्ग बन जावे—जगत का अश्रु-जल अभिलाषाओं के शैल-शृंगों को चूमते

हो, जीवन-नद हाहाकार से भरा हो, जिसमें पीड़ा की तरंगें उठती हों; नित्य नये सन्देहों से जन दुखी हों स्वजनों का विरोध श्याम अमावस्या बनकर फैले। शस्यश्यामला प्रकृति में दलित दारिद्रय दिखाई पड़े; मनुष्य दुःख-नीरद में इन्द्र-धनुष बनकर नये रंग बदला करे (१०२, २)

यह पुनीत प्रेम न रह जाय; सारी संसृति विरह-भरी हो। तुम अपने को शतशः विभक्त कर राग-विराग करो; मस्तिष्क हृदय के विरुद्ध हो, दोनों में सद्भाव न रहे—मस्तिष्क जब कहीं चलने को कहे, तो हृदय निकलकर कहीं अन्यत्र चला जाय (१०३, १); संकुचित असीम शक्ति प्राप्त हो; तर्क से भरी बुद्धि निष्फल हो (१०३, २); सारा जीवन ही युद्ध बन जाय और तुम जरा मरण में चिर-अशान्त हो जाओ (१०४, १)"

इस अभिशाप की पूर्ति सारस्वत प्रदेश में होती है।

सारस्वत-प्रदेश

सारस्वत-प्रदेश असुर-सभ्यता से अधिक प्रभावित प्रतीत होता है। "यहीं वृत्रघ्नी सरस्वती बहती है; यहीं विकराल देवासुर युद्ध हुआ था; यहीं पर इन्द्र की विजय-संस्मृतियाँ पाई जाती हैं (१६८, २) इसी प्रदेश में जीवन का नवमत लेकर देवों और असुरों में युद्ध चला था। एक प्राणों की पूजा करता था, दूसरा आत्म-विश्वास की; एक देह-पूजक था और प्राणों के सुख-साधन में ही संलग्न था, दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को ही उल्लास, शील और शक्ति का केन्द्र समझता था (१६६, १-२)।" इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ के असुर तो असुर थे ही, देवों में भी शुद्ध देव-सभ्यता न होकर, असुर प्रभावित देव-दम्भ ही था।

सारस्वत-प्रदेश में इतना असुर-भाव होना वैदिक साहित्य से भी सिद्ध होता है। सरस्वती का नाम वृत्रघ्नी तो है ही; साथ ही

उशन्, कक्षीवन् वसुक्र आदि असुर पुरोहितों के मन्त्रों में जहाँ जहाँ अश्विन, सुर, असुर अथवा मांस-भक्षण का उल्लेख किया गया है, वहाँ सरस्वती का भी नाम प्रायः देखा जाता है (दे० ऋ०, १०, १३१, ८, १४, वा० सं० १०, ३३; १४, ३४ इत्यादि)। नमुचि असुर के वध में भी सरस्वती का सम्बन्ध प्रायः बतलाया जाता है। श० २, ५, ४, २५; वा० सं० १६, ३४ ए० श० १२, ७, ३, १–३) और एक स्थान पर तो अश्विन और सरस्वती द्वारा नमुचि-वध के लिये इन्द्र के वज्र को अपने फेन से सिञ्चित किये जाने का उल्लेख है:—

इन्द्रस्येन्द्रियान्नस्य रस सोमस्य भक्षं सुरया सुरो नमुचिरहरत्सो (इन्द्रः) ऽश्विनौ च सरस्वतीं चोपाधावच्छेपानोऽस्मि नमुचये न त्वा दिवा न नक्तं हनानि न दण्डेन धन्वना न पृथेन न मुष्टिना न शुष्केण नार्द्रेणाथ यऽइदमहार्षी दिदिमा आजिहीर्षथेति । ते (अश्विनौ सरस्वती च) अब्रुवन् । अस्तु नोऽत्राप्यथाहरामेति सह न एतदथा-हरतेत्यब्रवीदिति । तावश्विनौ च सरस्वती च अपां फेनेन वज्रमासिञ्चन् शुष्कोनार्द्र इति तेनेन्द्रो नमुचेरासुरस्य व्युष्टायाम······शिरउदवासयत्

दूसरे स्थान पर सरस्वती द्वारा सिंह-रूप धारण कर हिंसा-कर्म किया जाना भी सम्भवतः असुर-प्रभाव का द्योतक है।

अतः इस प्रदेश में असुर-प्रभावित मनु के लिये आकर्षण होना स्वाभाविक था। यहाँ उसे बुद्धिवाद का सहारा मिलता है, जिससे उसके स्वार्थवाद तथा दर्प-भाव को उचित भोजन मिलता है और वह परमानन्दित होकर कह उठता है:—

> कलरवकर जाग पड़े मेरे यह मनोभाव सोये विहंग,
> हँसती प्रसन्नता चावभरी किरनों की सी तरंग।
> अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया;
> मैं बढ़ा सहज तो स्वयं बुद्धि को मानों आज यहाँ पाया।

मेरे विकल्प संकल्प बनें जीवन हो कर्मों की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार

(ङ) असुरत्व की पराजय

बुद्धिवाद के संसर्ग से मनु का सुखवाद पराकाष्ठा तक पहुँच गया; उनकी कामुकता सीमा में न रह सकी और अन्त में मनु का मारा असुरत्व इड़ा रानी पर भी बलात्कार करने पर तुल गया। यह असुरत्व की चरम सीमा थी।

अत उसके विनाश के लिये प्रजा तथा प्रकृति दोनों में निहित देव-शक्तियाँ मनु के विरुद्ध आरूढ़ो हुईं। जिन किलात आकुली ने मनु में असुरत्व की भूमिका समाप्त की थी वे ही इसका उपसंहार करने भी आ गये। मनु ने असुर पुरोहितों का काम तमाम किया, जन विद्रोह और प्रकृति-विप्लव ने मनु को घायल कर तथा उनके दर्प को चूरकर, उनमें आसुरी सुखवाद तथा जड़वाद के प्रति विराग की भावनाउत्पन्न की, निर्वेद उत्पन्न होते ही वह भाग गया।

(च) देवत्व की विजय

मनु ने फिर देव-सभ्यता की प्रतिनिधि श्रद्धा की सुखमयी शरण ली और अन्त में सच्चे आनन्द को प्राप्त किया। सारस्वत भी देवत्व मूर्ति श्रद्धा के पुत्र मानव को पाकर ही सुखी और समृद्धशाली हुई, जड़वादी मनु को लेकर नहीं। देवत्व की विजय हुई व्यष्टि में और समष्टि में भी।

(छ) अन्तर्जगत में देवासुर द्वन्द्व

'कामायनी' में अन्तर्जगत् में होने वाले देवासुर-संग्राम को भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। उसी को लक्ष्य करके कहा गया है—

देवों की विजय दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा,
संघर्ष सदा उर अन्तर में
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।

प्रथम सर्ग में, मनु की स्थिति ग्रैफ के उस शून्य के भाँति है जहाँ ऋणात्मक और धनात्मक, विराग और राग, मृत्यु और जीवन, असुरत्व और देवत्व, अकर्मण्यता और कर्मण्यता दोनों का मिलन है।

—असुरत्व = देवत्व

+ मृत्यु { —जीवन   + जीवन } —मृत्यु
+ विराग { —राग   + राग } —विराग
+ कर्मण्यता { —कर्मण्यता   + कर्मण्यता } —अकर्मण्यता

+ असुरत्व = —देवत्व
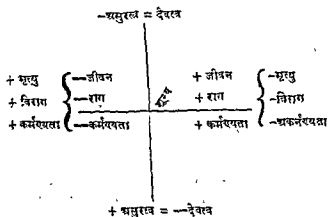
*यहाँ अतीत और वर्तमान के संगम पर बैठा हुआ मनु असुरत्व-*प्रधान "देव-दम्भ" को अपने सामने ही विनष्ट होते देख चुका है, और उसको वह अब अपने जीवन से पूर्णतया निकाल चुका है। साथ ही उसका स्थान लेने को शुद्ध देवत्व का कोई धनात्मक (Positive) आदर्श सामने नहीं है। अतः आदर्शहीन जीवन में कर्मण्यता के लिये अवसर न होने से वह शान्तिदायिनी, सुषुप्तिमयी मृत्यु के मार्ग की ओर मुख करके बैठा हुआ मालूम होता है:—

मौन ! नाश ! विध्वंस अंधेरा !
शून्य बना जो प्रगट अभाव !
वही सत्य है, अरी अमरते !
तुमको यहाँ कहाँ अब ठाँव ।

मृत्यु, अरी चिर निद्रे ! तेरा
अङ्क हिमानी सा शीतल,
तू अनन्त में लहर बनाती
काल-जलधि की सी हलचल ।

इस मनोवृत्ति का कारण जल-प्लावन का संघातक दृश्य था। प्रलय-कारण के हटते ही कार्य में परिवर्तन होना निश्चित था। प्रलय-विभीषिका का अन्त होते ही प्रकृति में नव-जीवन ने नवीन सौन्दर्य तथा आकर्षण लेकर पदार्पण किया। इस नवीन परिवर्तन को देखकर, मनु की शून्य स्थिति में देवत्व का उदय हुआ; सारे परिवर्तन के एक मात्र कर्ता विराट पुरुष की सत्ता की ओर ध्यान गया:—

"सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?

बस डूबते को तिनके का सहारा मिला; 'जीवन की पुकार' होने लगी; आदर्श मिलते ही यज्ञ, तप, संयम, ध्यान, मनन में लगकर मनु सहानुभूति तथा उदारता का आचरण करने लगा:—

दुख का गहन पाठ पढ़कर अब
सहानुभूति समझते थे;
नीरवता की गहराई में
मग्न अकेले रहते थे।

मनु का जीवन देवत्व की ओर अग्रसर हो रहा था।

परन्तु अधिक काल तक अकेले मन नहीं रहा जा सकता, किसी अज्ञात अपरिचित के प्रति कब तक उदासता दिखलाते रहें। सहानुभूति के लिये दूसरे का होना आवश्यक है। मनु के हृदय-कुसुम की मधु से भींगी पँखुरी अचानक खुलीं, मनु के मनोरंजन की चोट पड़ी, असुरत्व-प्रधान देव-दम्भ के संस्कार सजग हो उठे और 'अनादि वासना' नई होकर मधुर प्राकृतिक भूख के समान जग उठी, द्वन्द्व को सुखद अनुमान कर वे उसे चिरपरिचित की भाँति चाहने लगे। वे तृषित और व्याकुल होकर चिल्ला उठेः—

कब तक और अकेले ! कह दो
हे मेरे जीवन बोलो !
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।

फिर, क्या था ! 'वासना-सरिता' भर कर 'मदमत्त प्रवाह' बनने तथा 'प्रलय-जलधि' की ओर चलने की तैयारियाँ करने लगी, वर्तमान परिस्थिति से अरुचि तथा असन्तोष हुआ और वे देवों के उसी 'उन्मत्त-विलास' की मधुर स्मृति को जगाने लगेः—

मैं भी भूल गया हूँ कुछ,
हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था।
प्रेम, वेदना, भ्रान्ति या कि क्या,
मन जिसमें सुख सोता था !

असुरत्व ने फिर सिर उठाया, और मनु ने उसको अपनाया। मनु का जीवन फिर निरुपाय और आदर्श हीन हो उठा और वह एक बार फिर जीवन के धनात्मक को छोड़ ऋणात्मक की ओर मुख करते हुए मालूम पड़ता हैः—

कहा मनु ने, "नभ धरणी बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय,

एक उल्का सा जलता भ्रांत
शून्य में फिरता हूँ असहाय।"

मनु के जीवन का यह अभाव पूरा करने के लिये, श्रद्धा आत्म-समर्पण करती है और मनु की स्वार्थमय यजन करने तथा 'आत्म-विस्तार' न करने के लिये धिक्कारती है। उसका उपदेश है "तप नहीं केवल जीवन सत्य" और वह चाहती है कि मनु अतीत से सीख कर 'देव असफलताओं के ध्वंस पर' मनु का चेतन राज पूर्ण करें, जिससे मानवता विजयिनी हो।

यह है असुरत्व की ओर झुकते हुए तथा संकीर्णतामय जीवन व्यतीत करते हुए मनु को देवत्व की उदारता-पूर्ण चेतावनी।

परन्तु मनु के भीतर बैठा हुआ असुर इसको अपने दृष्टिकोण से देखता है। वह क्या जाने मनु का चेतन राज, जड़वादी आसुरी वासना श्रद्धा के जड़-शरीर की ओर ही आकृष्ट हो सकती थी। काम के शब्दों में 'देवत्व' उसे दूसरी चेतावनी देता है और श्रद्धा के योग्य बनने की सलाह देता है। पर श्रद्धा का सान्निध्य और काम की कृपा मनु की वासना को ही अधिक उद्दीप्त करते हैं, श्रद्धा का पशु के प्रति भी दुलार देखकर उसके हृदय में छिपी ईर्ष्या और वेदना का ही जन्म होता है —

आह वह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह!
पल रहे ये दिये जो अन्न से इस गेह।
मैं? कहाँ मैं? ले लिया करते सभी निज भाग,
और देते फेंक मेरा प्राप्त तुच्छ विराग।

मनु को मालूम है कि सारा जगत उसकी उपेक्षा कर रहा है, जो उसका खाते हैं उन पर भी उसका अधिकार नहीं। इसी उधेड़बुन में लगे हुए मनु को देखकर श्रद्धा कहती है —

कहा "क्यों अभी तुम बैठे ही रहे धरे ध्यान,
देखते हो और कुछ, सुनते रहे कुछ कान—
मन कहाँ, यह क्या हुआ है? आज कैसा रंग!"

अभी तक मनु को व्रीड़ा रोके हुए थी, परन्तु आज आसुरी वासना उसे दबाकर मनु से कहलवा ही देती है कि, 'मैं तुम्हारा हो रहा हूँ।' श्रद्धा भी इस समर्पण की स्वीकृति सी दे देती है, परन्तु उसके मार्ग में भी लज्जा आ खड़ी होती है जिसे लक्ष्य करके श्रद्धा कहती है:—

तुम कौन? हृदय की परवशता?
सारी स्वतन्त्रता छीन रही,
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे
जीवन वन से हो बीन रही।

श्रद्धा के मन में भी देव-दानव-द्वंद्व चल रहा है; परन्तु लज्जा का उपदेश है कि यह द्वंद्व तो सदैव होता रहता है और जब तक जीवित रहता है तब तक हानिकर ही सिद्ध होता है। इसलिये दोनों में सन्धि करा देना ही अच्छा है:—

आँसू से भीगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मित रेखा से
यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।

परन्तु, मनु इस समझौते के लिये तैयार नहीं; श्रद्धा तथा काम द्वारा दी गई देव-चेतावनी का अर्थ उसने उलटा ही लगाया। उसका आसुरी और जड़वादी सुखवाद श्रद्धा को अपनी वासना-तृप्ति का साधन भर ही मान सकता था। अतः उसके योग्य बनने के लिये उसने विलासिता के अधिकाधिक साधन जुटाना ही ठीक समझा। बाह्य असुरत्व 'किलात-आकुली, के रूप में मनु के आभ्यंतरिक असुरत्व

का सहायक बना; मांस-भक्षण, सोम-पान पशु-बलि के रूप में आसुरी सुखवाद प्रकट हुआ, देव-दानव में सन्धि का निश्चय कर देने वाली श्रद्धा ने, उसको पसन्द न करते हुए भी, 'क्षण भर की उस चंचलता द्वारा हृदय का स्वाधिकार खो दिया।' तिस पर भी मनु के असुरत्व में कमी नहीं आई, अपितु वह बढ़ता ही गया, तृष्णा का विकराल मुख फैलता ही गया; और अन्त में ईर्षा-द्वेष का शिकार होकर श्रद्धा को त्यागकर वह चल ही तो दिया।

इस समय मनु में देवत्व का ऋणात्मक तथा जीवन का धनात्मक रूप है।

सारस्वत नगर में मनु के जड़वादी सुखवाद का मेल बुद्धिवादी सुखवाद से होता है, जिसको वह भ्रमवश अपना समझ लेता है, और सूनी आशा में अनेक प्रकार की सुख-सामग्री की सृष्टि कर लेता है। परन्तु शीघ्र ही मनु का भ्रम दूर होता है; जड़वाद और बुद्धिवाद का संघर्ष होता है। अन्त में जड़वाद तथा बुद्धिवाद दोनों को अपने जीवन से निकालकर मनु फिर शून्य-स्थिति में पहुँच जाता है; परन्तु इस बार इस स्थिति से बाहर खींचने वाले आसुरी जड़वाद अथवा बुद्धिवादी सुखवाद नहीं; वे तो संघर्ष में नष्ट हो चुके और उन दोनों के कटु अनुभव की स्मृति अभी ताजी है। अतः चेतनवादी सुखवाद श्रद्धा के रूप में आकर उसे अवलम्ब देता है:—

> श्रद्धा का अवलम्ब मिला फिर
> कृतज्ञता से हृदय भरे,
> मनु उठ बैठे गद्गद होकर
> बोले कुछ अनुराग भरे।
> श्रद्धा! तू आगई भला तो
> पर क्या मैं था यहीं पड़ा।

वही भवन, ये स्तम्भ, वेदिका !
बिखरी चारों ओर घृणा।
आँख बन्द कर लिया क्षोभ से
दूर दूर ले चल मुझको,
इस भयावने अन्धकार में
खोदूँ कहीं न फिर तुमको।

यह थी श्रद्धा के "मन के चेतन-राज" की जीत, देवत्व की असुरत्व पर विजय। इसी सहारे को मनु लेकर आगे बढ़ा और उसने देखा कि सारे संघर्षों तथा द्वंद्वों का अन्त हो गया:—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

मनु-चरित

मनु के तीन रूप

कामायनी के कथानायक मनु हैं। भारतीय जनश्रुति में मनु के दो रूप मिलते हैं– एक रूप से वे अराजकता पूर्ण देश में "मत्स्य-न्याय" से परस्पर व्यवहार करते हुए लोगों के अनाचार का दमन कर और दंड-नीति का विधान कर समाज में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करते हैं (दे० म० भा० शा० प० ६७, १७, ३२, मनु० ७; ३, अं० शा०, १, १३; शु० नी० १, ११, १२५-४०); दूसरे रूप मे वे मनुस्मृति को रचने वाले, अनेक वेद-शाखाओं के अध्ययन करने वाले और विज्ञाना-नुष्ठान से सम्पन्न पुरुष होकर हमारे सामने आते हैं। (दे० मनुर्नाम कश्चित्पुरुषविशेषोऽनेक-वेद-शाखाध्ययनविज्ञानानुष्ठान-सम्पन्नः स्मृति परम्परा प्रसिद्धः—मे० प० भा०) पहला प्रजापति रूप है जो कामायनी में भी "मनु-इडा-युग" में मिलता है (तु० क० २००, ४; १६७, ८; २०१, ६); दूसरा वैदिक-कर्मकांडी ऋषि रूप है, जो यहाँ जलप्लावन से 'श्रद्धा-त्याग' तक माना जा सकता है और जिसके भी दो पहलू हैं—पहला तपस्वी मनु का जो 'किलाताकुली' के आने से पूर्व मिलता है, दूसरा 'हिंसक यजमान' मनु का जो असुर-पुरोहितों के आगमन के पश्चात् पाया जाता है। परन्तु, प्रजापति तथा ऋषि के अतिरिक्त कामायनी में मनु का एक तीसरा रूप और भी है, जो 'मनु-इडा-युग' के अन्त तहों पर आनन्द पथ को खोजते हुए मनु में देखा जा सकता है। यह 'प्रथम-पथ-प्रदर्शक' मनु का रूप है। इन्हीं तीनों रूपों में मनु-चरित का अध्ययन करना है।

वैदिक-कर्मकाण्डी ऋषि

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कर्मकांडी ऋषि रूप के दो पहलू हैं— एक तपस्वी मनु, दूसरा हिंसक-यजमान मनु ।

(अ तपस्वी मनु

"प्रलय-प्रवाह" को "भीगे नयनों" से देखने वाला 'एक पुरुष' (११, १) विश्व देव, सविता इत्यादि देवों पर शासन करने वाली विराट सत्ता के प्रति जिज्ञासा लिए हुए (३२-३४ पृ०), अनन्त की गोद सदृश विस्तृत गुहा में एक सुन्दर, स्वच्छ स्थान बनाता है (३८, २) और 'पहले संचित अग्नि' में अग्निहोम करते हुए तप, संयम, मनन और चिन्तन को अपना जीवन समर्पण कर देता है (३१, १-२; ४१, १, ४४, २):—

मनन किया करते थे बैठे
ज्वलित अग्नि के पास वहाँ;
एक सजीव तपस्या जैसे,
पतझड़ में कर वास रहा ।

यही तपस्वी मनु का चित्र है ।

'पहले संचित अग्नि' में यज्ञ करने वाले कामायनी के यह मनु वेद के मनु हैं, जिनके यज्ञ की प्रति-कृति-स्वरूप अन्य यज्ञ होते कहे जाते हैं। ऋ० १, ४४, ११; १०, ६३; १२; ४, ३४, ३ इत्यादि) जिनका नाम दध्याङ्च, अथर्वा, मातरिश्वा और अंगिरस जैसे तपस्वियों तथा यज्ञ-कर्ताओं के साथ लिया जाता है, क्योंकि वे स्थावर-जंगम-सृष्टि के शासक आदित्यों के लिए समिद्ध अग्नि में 'प्रथम अग्निहोत्र' करने वाले हैं:—

येभ्यो होत्रां प्रथमामयेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः ।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ।

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।
ते नः कृतादकृतादेनसस्परि अद्या देवास पिपृता स्वस्तये ।
(ऋ० १०, ६३, ७–८)

स्थावर जंगम पर शासन करने वाले ये आदित्य 'विश्वेदेवा' हैं क्योंकि उक्त सूक्त के सहित गयस्पात ऋषि के सभी सूक्तों (ऋ० १०, ६३, ६४) के देवता 'विश्वेदेवा' ही हैं। स्वय मनु ऋषि के सूक्तों (ऋ० ८, २७–३) तथा नाभानेदिष्ठ मानव (जो सम्भवत मनु का वशज है) के सूक्तों (ऋ० १०, ६१, ६४) के भी देवता विश्वेदेवा होने से गयस्पात का मनु को विश्वेदेवा का उपासक बतलाना प्रमाणित हो जाता है। मनु विश्वेदेवा को आदित्य कहते हैं औ, उन्हें 'विश्वे सुजोषस' 'समन्यव विश्वे', तथा 'साकं सरातय' आदि समष्टि-बोधक नामों से सम्बोधित करते हैं (दे० ऋ० १०, २७, २, १४ इत्यादि) और अन्त में इस समष्टि में 'एकत्व' मात्र की कल्पना करके समाज' नाम से आवाहन कर विश्वेदेवा की पितृ-भाव से उपासना करते हैं —

वय तद्. सम्राज आ वृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम् ।
अश्याम तदादित्या जुह्वतो हविर्येन वस्योऽनशामहै (वही,२२)

अत मेकडानेल का यह अनुमान कि विश्वेदेवा सभी देवों का समष्टि-रूप है ठीक प्रतीत होता है । परन्तु यह समष्टि उपर्युक्त 'समाज' शब्द से व्यक्त होने वाली केवल नमक घोल की 'तल्लीन' समष्टि ही सम्भव नहीं है, उसका दूसरा रूप 'सायुज्य' समष्टि भी है, जिसमें जैसा स्वयं मनु ने अपने सूक्तों में (८ २८–३०) बतलाया है 'त्रयः त्रिश.' या 'त्रिंशति त्रय ' अपने अपने व्यक्तित्व ,] भी बनाये रह सकते हैं ।

कामायनी के मनु भी 'विश्वेदेवा' के उपासक हैं, यद्यपि उन्हें अभी इस देव–'समष्टि' के यथार्थ रूप का ज्ञान हुआ नहीं प्रतीत होताः—

मनु के लिये प्रजापति शब्द का प्रयोग नियामक राजा के अर्थ ही में यहाँ हुआ है, क्योंकि मनु ने सारस्वत प्रदेश की अराजकता को दूर कर शांति-व्यवस्था स्थापित की थी:—

यह प्रजा बनाकर कितना तुष्ट हुआ था,
किन्तु कौन कह सकता इन पर रुष्ट हुआ था।
कितने जव से भरकर इनका चक्र चलाया,
अलग अलग ये एक हुई पर इनकी छाया।
मैं नियमन के लिये बुद्धि बल से प्रयत्न कर,
इनको कर एकत्र, चलाता नियम बनाकर।

वेद में भी मनु को सम्भवतः पृथ्वीपति के ही अर्थ में प्रजापति कहा गया है (अश्वा वाऽइयं पृथिवी भूत्वा मनुमुवाह सोऽस्याः पतिः प्रजापतिः श० १४, १, ३, २५; प्रजापतिर्वैमनुः श० ६, ६, १, १६)। एक स्थान पर मनु वैवस्वत को मनुष्यों का राजा कहा गया है (मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह तस्य मनुष्या विशः; श० १३, ४, ३, ३)। अथर्ववेद में उन्हीं मनु वैवस्वत को मनुष्यों के लिये पृथिवी-पात्र में कृषि और सस्य दुहने के लिये विराज गाय का वत्स बनाया गया है:—

सोदक्रामत सा मनुष्यानागच्छत्। तां मनुष्या उपाह्वयन्तेरावत्येहीति। तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम्। तां पृथीवैन्योधोक तां कृषिं च सस्यं चाऽधोक। (अ० वे० ८, १०, ४)

इन उल्लेखों से मनु का राजा होना तो सिद्ध है, परन्तु वे, विशेष की सीमा को पार कर सामान्य को प्राप्त हुए प्रतीत होते हैं; क्योंकि उनके देश-विशेष या प्रजा-विशेष का नाम नहीं मिलता। प्रसादजी ने मनु प्रजापति के 'सारस्वत-देश' की कल्पना की है, जो, जैसा पहले कहा जा चुका है, असुर-प्रभाव-प्रधान लीला-क्षेत्र होने के लिये पूर्णतया उपयुक्त है।

अराजकता-मय सारस्वत देश की अलग अलग रहने वाली प्रजा को एकत्र कर नियमन द्वारा उसको 'एक छाया' कर देने वाले, (११७, ८,.१०), वर्ण-व्यवस्था, श्रम-विभाग, शस्त्र-यन्त्र-रचना के कर्त्ता, प्रकृति के साथ संघर्ष सिखाने वाले तथा देश में समृद्धि लाने वाले मनु (२०४, ४–९, २०१, १–२)—यह कामायनी के प्रजापति मनु का चित्र है।

उस चित्र का आधार यों तो उपर्युक्त अथर्ववेदीय उद्धरण में मिल जाता है, परन्तु वहाँ पर मनु तो केवल निमित्त मात्र मालूम पड़ते हैं, वास्तव में प्रधानता तो पृथी वैन्य की है, जिन्होंने मनुवत्स के बहाने सारी मनुष्य जाति के लिये विराज गाय से कृषि और सस्य का दोहन किया। फिर भी ऋग्वेद में मनुष्यों को बार बार 'मनोर्विशः' कहना, उनके कार्यों को 'मनुष्वत्' कहकर मनु को ही उनके लिये अनुकरणीय आदर्श मानना तथा स्वयं उनका नाम ही मनु शब्द से निकला हुआ होना मनु की उस प्रधानता के द्योतक हैं, जो महाभारत शा० प० ६७, १७, २२, मनुस्मृति ७, ३, अर्थशास्त्र १, १३ और शुक्रनीति १, ११, १२९-४० आदि ने उन्हें दी है और जहाँ से सम्भवतः कवि को कामायनी के मनु-प्रजापति का चित्र रचने के लिये प्रेरणा प्राप्त हुई है। महाभारत आदि में भी अराजक-देश में अनाचार और दुराचार का दमन कर सुखी, समृद्ध, व्यवस्थित तथा नियमित राष्ट्र निर्मित करते हैं।

परन्तु प्रसादजी के मनु परम्परागत मनु से कुछ भिन्न भी हैं। महाभारत के मनु से जब राजा बनने का प्रस्ताव किया जाता है तो पहले तो वे तैयार ही नहीं होते, क्योंकि वे दुराचार और मिथ्याचार से डरते हैं; कुकर्मियों पर शासन करने का साहस उन्हें तभी होता है जब वे लोग दुराचार का दण्ड भोगने, पशुधन तथा सुवर्ण का पचासवाँ तथा अन्न का दसवाँ भाग कर रूप में देने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं। इसके विपरीत कामायनी के मनु वासना के शिकार, दर्प और दम्भ से

युक्त, अतिचार और अनाचार को अपना अधिकार समझने वाले हैं।
देश में उनके द्वारा नियमन, व्यवस्था, समृद्धि तथा शांति का विस्तार
किया गया है सही, पर प्रजा उसको दूसरे ही दृष्टिकोण से देखती है।—

वे बोले सक्रोध मानसिक भीषण दुख से,
"देखो पाप पुकार उठा अपने ही मुख से।
तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला,
लोभ सिखाकर इस विचार संकट में डाला।
हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।
प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सब की छीनी,
शोषण कर जीवनी बनादी सब की झीनी।

यह थोड़ासा परिवर्तन, परम्परा में किंचित् घुमाव, रूढ़िगतगाथा में ईषत् हेर-फेर, आधुनिकता की पुकार का समावेश करने, नई समस्याओं को युग का प्रतिनिधि महाकाव्य बनाने के लिये अत्यन्त आवश्यक था।

इस आवश्यकता-पूर्ति में भी लेखक ने औचित्य की सीमा को लाँघकर निरंकुशता तथा स्वच्छन्दता से काम नहीं लिया है। 'तपस्वी मनु' एवं 'हिंसक यजमान मनु' - वैदिक परम्परा के आधार पर गढ़ा हुआ जो रूप मनु का दिखलाया गया है उसमें अतिचारी व अनाचारी प्रजापति की भूमिका स्पष्ट मिल जाती है; और मनुस्मृति में भौतिक सांसारिकता, तथा बुद्धिवादी सुखवाद के जो उल्लेख मिलते हैं वे कामायनी के 'राजा मनु' को अपनाते से मालूम पड़ते हैं। मनुस्मृति का राजा स्वेच्छाचारिता तथा निरंकुशता की मूर्ति तथा प्रजा को कठपुतली की भाँति नचाने वाला है—

यस्य प्रसादे पद्माऽस्ते विजयश्च पराक्रमे,
मृत्युश्च वसतिक्रोधे सर्वतेजमयो नृपः।

वह 'अनुचित-उचित विचार तज' वाली राजभक्ति चाहता है:—

बालोऽपि नाऽवमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति।

कामायनी का मनु भी इससे अधिक और क्या है ? वह कहता है—

"इड़े ! मुझे वह वस्तु चाहिये जो मैं चाहूँ,
तुम पर हो अधिकार, प्रजापति न तो वृथा हूँ।

वह दूसरों पर नियन्त्रण रखना चाहता है, पर स्वयं स्वच्छन्द विचरण करना चाहता है:—

किन्तु स्वयं भी क्या वह सब कुछ मान चलूँ मैं,
तनिक न मैं स्वच्छन्द, स्वर्ण सा सदा गलूँ मैं।
जो मेरी है सृष्टि उसी से भीत रहूँ मैं,
क्या अधिकार नहीं कि कभी अविनीत रहूँ मैं।
श्रद्धा का अधिकार समर्पण दे न सका मैं,
प्रतिपल बढ़ता हुआ भला कब वहाँ रुका मैं
इड़ा नियम परतन्त्र चाहती मुझे बनाना,
निर्वाधित अधिकार उसी ने एक न माना

उसका विश्वास है कि विश्व की भांति वह बन्धन-विहीन है, जिसकी इच्छा के इशारे पर पृथ्वी का समुद्र और सागर का मरुस्थल (तु० क० मत्प्रसादे पद्माऽस्ते इत्यादि) बन जाता है:—

विश्व एक बन्धन विहीन परिवर्तन तो है;
इसकी गति में रवि-शशि-तारे ये सब जो हैं;
रूप बदलते रहते वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती।

इसी प्रकार सोमपान, मांस-भक्षण तथा वासना-तृप्ति के पीछे पड़े हुए तथा यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् को चरितार्थ करने वाले मनु भी क्या मनुस्मृति के इस कथन के विपरीत जाते हुए मालूम पड़ते हैं—

न मांस भक्षणे दोषो न मद्यं न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।

(ख) इड़ा

इसके अतिरिक्त मनु के जीवन में इड़ा का आना कामायनी के प्रजापति के चित्र को और अधिक प्रामाणिक बना देता है। शतपथ ब्राह्मणों में मनु के यज्ञ-शिष्ट अन्न से पली हुई होने के कारण इड़ा को उनकी दुहिता कहा गया है और उसको पाकयज्ञिया मानवी, यज्ञानुकाशिनी आदि विशेषण भी प्रदान किये गये हैं। (मनुना सामभेऽजनयत तस्मादाह (इडा) इति श० १, ८, १, २६ एतद् वैमनुर्विसयां चकार। इदं वैमनुर्वंशस्य यदिपमिडा पाकयज्ञिया श० १, ८, १, १६, सा मनोर्दुहिता एषा निदानेन यदिडा श० १, ८ १, ११; इडा वै मानवी यज्ञानुकाशिन्यासीत् तै० १, १, ४, ४)। प्रसादजी ने इस बात की ओर भूमिका में संकेत तो किया है, परन्तु कथा वस्तु में यज्ञान्न से पालित कन्या के बदले उसे मनु की 'आत्मजा-प्रजा' कहना अधिक उचित समझा है:—

"अरे आत्मजा प्रजा! पाप की परिभाषा बन शाप उठी।"

इड़ा उसी दुनिया की नारी है, जिसका झुकाव भौतिकवाद की ओर मालूम होता है। जगत् की अपूर्णता पर उसे क्षोभ है और उसके स्रष्टा के प्रति वह सन्देह और उपेक्षा का भाव रखती है।

तब क्या इस वसुधा के लघु लघु प्राणी को करने को सभीत
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत।

सब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी,
उसका अधिपति ! होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गयी।

लोग किसी सुदूर 'ज्योतिर्मय परलोक' की बात करते हैं, परन्तु वह उसके किस काम का ? वह तो नियति-जाल से छुटकारा पाने की पक्षपातिनी है —

उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओत
वह एक किरन देकर अपनी मेरी स्वतन्त्रता में सहाय,
क्या बन सकता है नियति जाल से मुक्ति दान कर उपाय ?

उसे अपने ही बुद्धिबल का भरोसा है और अपने अभीष्ट-साधन के लिये वह अखिल लोक में पथ फैलाने वाले 'विज्ञान सहज साधन उपाय' का अवलम्बन श्रेष्ठ समझती है —

हाँ तुम ही हो अपने सहाय।
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर नर किसकी शरण जाय,
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन-उपाय,
यश अखिल लोक में रहे छाय।

इड़ा के इस व्यक्तित्व में क्या है ? अतीन्द्रिय और अव्यक्त के प्रति उपेक्षा तथा अश्रद्धा, प्रत्यक्ष में विश्वास, बुद्धि एवं विज्ञान का भरोसा और आत्माभिमान-मूलक स्वावलम्बन। यह बुद्धिवाद की तथा कथित क्रियात्मकता है, इसलिये उसके कथन को सुनकर मनु कहता है —

अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया
मैं बढ़ा सहज तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया।

इड़ा के बुद्धिवाद के वैदिक आधार के विषय में यही कहा जा सकता है कि इड़ा को सरस्वती आदि की भाँति बुद्धि-साधने वाली

अथवा चेतना देने वाली कहा गया है (सरस्वती साधयन्ती धियं न इडा देवी भारती विश्वतूर्ति ऋ० वे० २, ३, ८, तु० क० १०, ११०, ८ इत्यादि)। उसके इस बुद्धिवाद का मनु पर भी सम्भवतः प्रभाव पड़ा था, क्योंकि भारती तथा इससे प्रार्थना की गई है कि मनु की भाँति (मनुष्वत्) हमारा भी प्रबोध करती हुई हमारे यज्ञ को आओ (आवो यज्ञ भारती तूयमेत्विडा मनुष्वत् तविह चेतयन्ती)

इडा का दूसरा रूप रानी का है। कामायनी में वह उजड़े सारस्वत प्रदेश को, मनु को उसका राजा बनाकर, समृद्ध बनाने वाली लोकप्रिय रानी है; जिस पर अत्याचार होते ही उसकी प्रजा विद्रोह का झगड़ा खड़ा करती है और अतिचारी मनु को लेने के देने पड़ जाते हैं:—

> सिंहद्वार अरराया जनता भीतर आयी।
> 'मेरी रानी' उसने जो चीत्कार मचायी।
> × × ×
> आज बंदिनी मेरी रानी इडा कहाँ है ?
> ओ यायावर ! अब तेरा निस्तार कहाँ है

ऋग्वेद में कहा गया है कि 'हे अग्नि ! देवों ने तुम्हें आयु के लिये (आयवे) प्रथम आयु, विश्पति तथा इडा को 'मनुष्य' का (मनुषस्य) शासन करने वाली बनाया, जिससे पिता का पुत्र उत्पन्न हो (१, ३१, ११; तु० क० श० १, २, २, ३)' यास्क ने आयु का अर्थ मनुष्य बतलाया है (आयो अयनस्य मनुष्यस्य नि० १०, ४, ३१ ११, ४, ४६ इत्यादि) जो सायण तथा आधुनिक भाष्यकारों को भी मान्य है और जो उक्त सूक्त के प्रारम्भ में 'कतिधी चिदायवे' कहकर अग्नि के मनुष्य के प्रति किये गये उपकारों की गणना कराने के ढङ्ग से भी ठीक जँचता है।

यदि 'प्रथम आयु' या प्रथम मनुष्य तथा विश्पति का अभिप्राय मनु से हो, तो इस मन्त्र के अनुसार देवताओं ने अग्नि को ही मनु

राजा (विश्पति) बनाया तथा इडा को उसकी रानी बनाया और ऐसा किया गया 'आयु के लिये' (आयवे) अर्थात् आयु की उत्पत्ति के लिये, जो कदाचित् दोनों के संयोग से उत्पन्न होने वाला पुत्र ही प्रतीत होता है। इसी सूक्त में मनु को पुररवा कहा गया है (मानवे धामवाशय पुरूरवसे सुकृते सुकृत्तर १, ३१, ४) तथा एक दूसरे मन्त्र में 'यूथ (समूह) की माता इडा को उर्वशी कहा है और समरथ किये हुए आयु को व्यक्त करते हुए प्रसन्न होने के लिये उससे प्रार्थना की गई है —

अभि न इडा यूथस्य मातास्मन्नदीभिर्वशी वा गृणातु ।
उर्वशी वा बृहद्दिवा गृणानाभ्युर्वाना प्रभृथस्यायोः ।

पुररवा और उर्वशी का दम्पति होना परम्परा-प्रसिद्ध है। उनका उल्लेख वेद में भी आता है। अत 'प्रथम आयु' विश्पति तथा मनुष की शासयित्री इडा का जोड़ा और मनु-पुररवा तथा इडा-उर्वशी का जोड़ा एक ही मालूम पडता है। उसी प्रकार पहले जोड़े से उत्पन्न आयु, दूसरे जोड़े की इडा-उर्वशी द्वारा 'सभृथ' आयु ही प्रतीत होता है और शतपथ ब्राह्मण में पुररवा तथा उर्वशी से उत्पन्न पुत्र का नाम 'आयु' कहा भी गया है —

उर्वशी वा अप्सरा। पुररवा पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायततदायु (श० ३, ४, १, २२)

इस विषय में कठिनाई डालने वाला 'पुररवा-उर्वशी सवादसूक्त' (ऋ० १०, ९५) जिसमें ऋषि और देवता का नाम पुररवा ऐड (इडा का पुत्र) है; परन्तु जब हम यह देखते हैं कि सारे सम्वाद में 'पुररवा शब्द का ही प्रयोग हुआ है और केवल अन्तिम मन्त्र में, ऐड को सम्बोधित करके 'इतित्वा देवाइम आहुरैड' आदि से पूरे सम्वाद का उपसहार किया गया है, तो स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने सारे सम्वाद में ऐड

को देवताओं द्वारा वर्णन किया हुआ बतलाया है और पुरूरवा तथा ऐड दो भिन्न भिन्न प्राणी हैं (दे० आगे 'कुमार वामायन' भी)। एक कठिनाई और भी सामने आती है—इडा मनु की यज्ञ-पालिता मानवी है, जब कि उर्वशी एक अप्सरा। परन्तु यह कठिनाई दूर करने के लिये हमें देखना पड़ेगा कि इडा और उर्वशी में कई बातें समान हैं। दोनों मनुपुरूरवा की पत्नी है, दोनों का पुत्र 'आयु' है। इडा को देवों ने 'मनुष्यस्य शासनी' बनाया है; उर्वशी को देवों ने शाप देकर स्वर्ग से उतारा है। जिस प्रकार इडा को मानवी तथा मनु की पत्नी कहा गया है (का० सं० ३०, १; श० ११, ४, १६; Indische studien), उसी प्रकार उसको मैत्रावरुणी बताया गया है, क्योंकि यह मित्रावरुण के साथ समागम करती है (श० १, ८, २६) और उर्वशी भी स्वर्ग में मित्रावरुण की ही पत्नी परम्परा में प्रसिद्ध है।

इससे यह स्पष्ट है कि परम्परा में, मनु तथा इडा का पति-पत्नी सम्बन्ध है और दोनो के संयोग से आयु-वंशी आर्यों अथवा मनु-वंशी मानवों की सृष्टि होना प्रसिद्ध है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि पत्नी को दुहिता (आत्मजा नहीं, तो पोषिता ही सही) कहने की परम्परा किस प्रकार चल पड़ी।

इस रहस्य के पीछे एक दार्शनिक तत्व छिपा है। देवासुर संग्राम की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए, जैसा कि कहा गया है, ऐतिहासिक कथानकों को लेकर दार्शनिक तत्व-निरूपण करने की प्रथा भारतीय साहित्य में व्यापक है। मनु एक ऐतिहासिक राजा, अतएव अपनी प्रजा के पालक प्रजापति हैं, उसी प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में जीवमात्र प्रजा का प्रजापति परमेश्वर (गो० १, १, ७; श० १३, १, २, ११ इत्यादि) तथा पिंडाण्ड में 'संकल्प' 'विकल्प' आदि प्रजा का पालक प्रजापति मन है (कौ० १०, १; २६, ३; सा० १, १, १; तै० ३, ७, १, २; श० ४, १, १, २२; जै० उ० १, ३३, २ ऐ० आ० ५, २२;

कौ० २०, २) ऐतिहासिक प्रजापति मनु के द्वारा ब्रह्माण्ड तथा पिण्डाण्ड प्रजापति का स्वरूप व्यक्त करने में 'मनु' तथा मननार्थ वाची मन् धातु से निष्पन्न 'मन' में पाये जाने वाले सादृश्य ने बहुत सहायता की। मन अपनी संकल्प-विकल्पादि प्रजा को मनन द्वारा वाक् या अभिव्यञ्जक शक्ति से उत्पन्न करता है, तदनुसार उसकी प्रतिकृति ब्रह्माण्डी प्रजापति भी सारी सृष्टि मानस-ध्यान से वाक् द्वारा करता है। (सः तूष्णीं मनसा ध्यायतस्य यन्मनस्यासीत्तद्बृहत्सामभवत्। सा आदीधीत गर्भो वै मेऽयमन्तर्हितस्तं वाचा प्रजनया इति मै० स० ४, २, १ स मनसात्मानमध्यायत् सोऽन्तर्वाण्यभवत् ता० ७, ६, १-३६ इत्यादि) अतः मनु जब इस सारे ब्रह्माण्ड या पिण्डाण्ड के प्रजापति हुए, तो उनको भी मनन द्वारा सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला कहा गया (प्रजापति वै मनुः स हीदं सर्वममनुत श० ६, ६, १, १६; वा० स० ३७, १२)। पिण्डाण्डी तथा ब्रह्माण्डी प्रजापति जिस वाक् या आत्माभिव्यञ्जक शक्ति से सृष्टि करते हैं, वह उनकी 'स्व', महिमा तथा दुहिता है (श० २, २, ४, ४, १, ४, २, १७, का० सं० २२, ५, २७, १ मै० स० ४, १ इत्यादि) क्योंकि उन्हीं में से वह उत्पन्न होती है और पत्नी भी (श० २ १, १, १६, ३, १, २२ वा० स० ६, ४ इत्यादि) क्योंकि वे उसी से सारी सृष्टि रचते हैं (प्रजापतिर्वा इदमासीत्तस्य वाग द्वितीयासीत्तामिथुनं समभवत्सा गर्भमधत्त सास्मा-दपाक्रामत्सेमाः प्रजा असृजत ता० २, १४, २ तु० कै० वृ० उ० १, २, ४; का० स० १२, ५, २८, १ इत्यादि)। जब सृष्टा प्रजापति ने मनु का नाम ग्रहण किया तो विश्वसृज की पत्नी तथा पुत्री वाक् ने भी 'इडा' नाम धारण कर लिया। अतः विश्वसृज की पत्नी 'इडा' कही जाती है (इडा पत्नी विश्वसृजाम् तै० ३; १२, ६४)। साहित्यिक परम्परा में इडा और वाक् पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं (गो भू वाचस्त्विडा इला अमर) और इडा को मनु की दुहिता या प्रथम सृष्टि (श० १, ८, १ अ० ८, १, १६; १, ८, १, २६) कहा

प्रसादजी ने इस बिखरी वैदिक-विभूति में से अपने काव्य के लिए बड़ी सावधानी के साथ सामग्री-चयन किया है। यदि हम सामाजिक महाकाव्य की दृष्टि से कामायनी को देखें तो उन्होंने न तो इड़ा को मनु की तनुजा माना न पाक-यज्ञिया, और न सन्तानोत्पत्ति करने वाली पत्नी। उन्होंने उसे 'आत्मजा-प्रजा' कहकर केवल प्रजा होने के नाते पुत्री माना है। यद्यपि सारस्वत देश उसका है और मनु उसे 'राष्ट्र-स्वामिनी' कहकर भी सम्बोधित करता है (१०४, ६); परन्तु वास्तव में मनु राजा है जिसको केन्द्र बनाकर इड़ा शासन-चक्र चलवा रही है (सु० क० २०१, १)। इन दोनों के पार्थक्य का आधार यद्यपि आध्यात्मिक पक्ष में, जैसा प्रसादजी ने भूमिका में कह दिया है, मन तथा वाक् का विवाद है (श० ब्रा० १४, ३, २, १४, कौ० २१, ४२; श० ८, १ १, ६) परन्तु सामाजिक पक्ष में पुरुरवा-उर्वशी-वियोग से वह यद्यपि इस बात में मिलता है कि पुरुरवा की भाँति मनु भी अपनी निष्ठुर और विमुख प्रेयसी पर अधिकार जमाना चाहता है, फिर भी वह इस बात में भिन्न हो जाता है कि उर्वशी की निष्ठुरता तथा विमुखता का कारण विवशता एवं लाचारी है, जब कि इड़ा ने सम्भवतः कर्तव्यशीलता के कारण मनु को कभी प्रेम ही नहीं किया। अतः यदि पुरुरवा-उर्वशी के वियोग को इसका आधार माना जाय, तो प्रसादजी के अभीष्ट आध्यात्मिक रूपक को लाने के लिये इतना परिवर्तन आवश्यक हो जाता है।

मनु-इड़ा तथा पुरुरवा-उर्वशी के संयोग की भाँति वियोग में भी मौलिक एकरूपता की पुष्टि करने वाली एक घटना और है। जैसे ही मनु ने इड़ा को स्पर्श किया, वैसे ही रुद्र-हुंकार हुआ, देव शक्तियाँ क्षुब्ध हो उठीं, देव 'आग' की ज्वाला भभक उठीः—

> आलिंगन! फिर भय का क्रन्दन! वसुधा जैसे काँप उठी!
> वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी!
> अन्तरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी।

अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा बन शाप उठी !
उधर गगन में क्षुब्ध हुई सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी
रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी।

ब्राह्मणों में कहा गया है कि देवताओं की स्वसा इडा पर प्रजापति ने बलात्कार किया, इसीलिये रुद्र ने क्रुद्ध होकर प्रजापति को घायल किया (तं प्रजापति रुद्रोऽभ्यायत्यं विव्याध श० १, ७, ४, ३; ३, १३) क्योंकि यह देवों का 'आग' (पाप) था (तद्वै देवानां आग आस)। उधर पुरुरवा उर्वशी से वियुक्त होकर मरणासन्न हो ही जाता है।

जैसा उल्लेख किया जा चुका है इडा-उर्वशी मैत्रावरुणी कही जाने से देवताओं से उसका सम्बन्ध है ही, अतः सम्भव है कि पहिले मनु तथा देव जाति की रानी इडा का सम्बन्ध रहा हो, परन्तु इडा के कुटुम्बी अन्य राजाओं को किसी कारणवश न रुचा हो, जिससे उस जाति के देवों से मनु का संघर्ष हुआ हो, जिसमें मनु घायल हुआ हो। अथवा आध्यात्मिक पक्ष में, जिस प्रकार पुरुष-सूक्त में सृष्टि-रचना के लिये देवों द्वारा पुरुष की बलि देने का उल्लेख मिलता है; (यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत) उसी प्रकार वाक् या इडा से समागम करके सृष्टि-चक्र चलाने के लिये प्रजापति का मारना कहा गया हो। इस विषय में यह बात ध्यान देने की है कि जिस प्रकार पुरुष का हनन करदेने पर अनेक वस्तुओं की उत्पत्ति होने का उल्लेख है; उसी प्रकार प्रजापति के घायल होने या मरने में।

(ग) रुद्र

अस्तु, दोनों हो या एक, प्रसादजी ने कामायनी में रुद्र को एक ऐसी दैवीशक्ति माना है जो अपनी सृष्टि में अन्याय, अत्याचार और अनाचार नहीं सहन कर सकता, अपितु अपनी सभी देव-शक्तियों सहित अपराधी पर टूट पड़ता है:—

धूम केतु सा चला रुद्र नाराच भयंकर
लिये पृष्ठ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।
अन्तरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी,
सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।
और गिरी सतु पर, मुमूर्षु वे गिरे वहीं पर,
एक नदी की बाढ़ फैलती थी उस भू पर।

वेदों में रुद्र का कोप, उसकी भयंकरता, हेति तथा शर आदि अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख प्रायः मिलता है (ऋ० २, ३३, ३, ११, १०; १२६, २, ३, ३३, १, अ० वे० १, २८, ६; श० ६, १, १, ६) और उससे देवता लोग भी थर-थर काँपते रहते हैं (श० ब्रा० ६, १, १, १-६)। वह आपत्ति से रक्षा करने वाला (ऋ० २, ३१, ११) कल्याण-कर्त्ता (ऋ० १, ११४, १. ३; २, ३३ ६) तथा शिव हैं, परन्तु पापियों के लिये घातक (ऋ० ४, ३, ६) तथा हानि पहुँचाने वाला भी है (ऋ० २, ३३, ११, ४; ६, २८, ७, ४६, ३-४)। रुद्र के उस घोर (कौ० १६, ७) रूप तथा देव-विरोधी कार्य-कलाप के आधार पर उसे अनार्य-देव कहना ठीक नहीं जान पड़ता। इसका संहारक रूप ही बाद में प्रधान रहा है। पुरुष-सूक्त के पुरुष-यज्ञ के आधार पर सृष्टि को यज्ञ मानकर उसका विध्वंस करने वाले (तै० स० २, ६, ८, ३; गो० १, १, २) रुद्र सृष्टि-संहारक हैं, इसीलिये प्रजापति अथवा देवताओं द्वारा यज्ञ (सृष्टि-यज्ञ) से रुद्र को निकालने का उल्लेख मिलता है। (प्रजापतिर्वै रुद्रं यज्ञान्निरभजत् तै० १, ६, ८, ३; तु० क० गो० २, १, २) क्योंकि सृष्टि-चेत्र में संहारक देवता का आना व्यर्थ है। यही अभिप्राय पुराण की उस परम्परा का समझना चाहिये जिसमें शङ्कर तथा उनकी पत्नी का यज्ञ से बहिष्कार किया गया है:—

दक्षः (प्रजापतिः) उवाच—

सर्वेष्वेव हि यज्ञेषु न भागः परिकल्पितः
न मन्त्राः भार्यया सार्द्धं शतपथेति नेऽयते ।

(श० पू० १९, ८)

निर्वेद

(३) प्रथम पथ-प्रदर्शक मनु

(क) 'प्रसाद' का पथ-प्रदर्शक—

कामायनी में मनु प्रजापति के ध्वंस पर मनु-पथप्रदर्शक का निर्माण किया गया है। इड़ा के साथ ही बुद्धिवादी सुखवाद से भी उसे घृणा हो जाती है; वह उससे तंग आ गया है और उसे छोड़कर भागना चाहता है:—

सोच रहे थे, 'जीवन सुख है'
ना, यह विकट पहेली है ।
भाग अरे मनु ! इन्द्रजाल से,
कितनी व्यथा न झेली है ? (२३७, २)

उसका जीवन फिर शून्य है, खोखला है, खीझ और झुंझलाहट से भरा हुआ है:—

शापित सा मैं जीवन का यह,
ले कंकाल भटकता हूं ।
उसी खोखलेपन में जैसे,
कुछ खोजता अटकता हूं ।
अंध-तमस है, किन्तु प्रकृति का,
आकर्षण है खींच रहा,
सब पर, हाँ अपने पर भी मैं,
झुंझलाता हूं खीझ रहा ।

पथ की खोज

यह निर्विण्ण हृदय की अभिव्यक्ति है। वह जीवन की अशान्ति से उद्विग्न होता है; जनरव, कलह, कोलाहल से घबड़ाकर वह शान्ति की खोज में निकल पड़ता है:—

> तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको,
> जहाँ खोजता जाऊँगा। (२३८, १)

बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् उसे दूर पर एक 'उर्ध्व देश' में उन्नत शैल-शिखरों पर ज्योतिर्मय वातावरण दिखाई पड़ता है। वहाँ प्रकाश, आनन्द और शान्ति का साम्राज्य है:—

> लीला का स्पन्दित आह्लाद,
> वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद,।
> आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर,
> झरते थे उज्ज्वल श्रम सीकर।
> बनते तारा, हिमकर दिनकर,
> उड़ रहे धूलि कण मे भूधर। (२६१, १)

प्राप्ति

'निर्वेद' के पश्चात् यह 'दर्शन' मनु को चिरप्यासे को पानी की भाँति लगा और वह आनन्दपूर्ण आकुलताके साथ उस ओर दौड़ा। जब उधर बढ़ा तो उसे सारा 'रहस्य' ज्ञात हुआ—उसे मालूम हुआ कि जीवन के जिस रूप को उसने अभी तक देखा था वह कितना भयंकर, गन्दा और दुखमय है। अन्त में वह अपने अभीष्ट प्रदेश में कैलाश पर पहुँच जाता है, जहाँ अखण्ड आनन्द तथा पूर्ण समरसता जड़-चेतन पर बिराज रही है:—

समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक बिलसती,
आनन्द अखण्ड घना था। (३०२, ४)

पथ-प्रदर्शन

आनन्द का यह मार्ग मनु अपने ही लिए नहीं रखता इसके दर्शन के लिये जो सारस्वत नगर निवासी जाते हैं उनको भी वह इसी ओर संकेत करता है:—

मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर
कैलाश ओर दिखलाया;
बोले, देखो कि यहाँ पर,
कोई भी नहीं पराया ।(२९९ ३)

× × ×

सब भेद भाव भुलवाकर,
दुख सुख का दृश्य बनाता,
मानव कह रे ! 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता ! (२६७, ४)

सचमुच वहाँ के सुन्दर, पवित्र तथा शान्त वातावरण से सभी लोग बहुत प्रभावित होते हैं:—

प्रतिफलित हुईं सब आँखें,
उस प्रेम-ज्योति विमला से—
सब पहिचाने से लगते—
अपनी ही एक कला से। (३०२, ३)

मनु

(ख) वेद का पथ-प्रदर्शक

जिस पथ का मार्गण, ग्रहण और निर्दर्शन कामायनी के मनु ने किया, उसी प्रकार के 'पंथ' का उल्लेख वैदिक मनु के साथ भी मिलता है। गयः प्लात ऋषि अपने एक सूक्त (ऋ० १०, ६३) का आरम्भ मनु द्वारा प्रसन्न किये हुये (मनुप्रीतासः) 'परावतः' विश्वेदेवों के आह्वान के साथ करके उन "नृचक्षसः अनिमिषन्त." देवों द्वारा अमृतत्व-प्राप्ति करने, अनागसः होकर द्युलोक के शिखर पर वास करने, 'समाज' के 'सुवृध यज्ञ' में आकर द्युलोक में स्थान-ग्रहण करने और मनु के स्तोम से उनके प्रसन्न होने तथा कल्याणमार्ग, (अध्वरं ······ स्वस्तये) दिखलाने का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि जिन आदित्यों के लिये समिद्धाग्नि मनु ने प्रथम (अग्नि) होत्र किये, वे ही हमारे लिये 'अभय शर्म' प्रदान करें तथा कल्याण के लिए सुगम एवं सुन्दर/ मार्ग बनायें (त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये)। एक दूसरे सूक्त में (ऋ० ८, ३०) विश्वेदेवा की मनु पर होने वाली कृपा दृष्टि का उदाहरण देकर, ऋषि उनसे प्रार्थना करता है कि 'आज फिर, एक पर को और (अपरं तु)—अर्थात् मुझ पर को। नः तु)—वरिवं (जिसका अर्थ 'रथान, बड़ा मार्ग, सुख, कल्याण आदि किया जाता है) प्राप्त करने वाले ही जाइये (देवासो दिध्मा मनवे समन्यवो विश्वे साक सरातयः। ते नो अद्य ते अपरं तु चे तु नो भवन्तु वरिवोविदः ऋ० १०, २७, १४); फिर विश्वे देवा की सायुज्य-समष्टि के बदले उनकी तल्लीन-समष्टि रूप को 'अद्रुह' तथा 'संदथ उपस्तुतीनाम्' कहकर, उसके धाम को प्राप्त करने वाले 'मर्त्य' को सब प्रकार से सुखी तथा अर्यमा, मित्र, वरुण आदि द्वारा सुरक्षित बतलाकर, दुर्गम मार्ग को सुगम बनाने (अमे चित्तस्मै कृणुथन्यञ्चन दुर्गे चिदा सुसरणम्) तथा अन्य

कठिनाइयों को दूर करने की प्रार्थना की गई है और अन्त में कहा गया है कि 'जिस अभीष्ट कल्याण (वामं तु० क० वामं वननीयं मा० और दे० 'अस्य वामस्य' इत्यादि ऋ० १, १, ६४, १) को मनु के लिये विश्वेदेवा ने प्राप्त कराया, वही हे सम्राज ! हम तुमसे उसी प्रकार माँग रहे हैं जिस प्रकार पुत्र पिता से' (यदद्य सूर उदिते यन्मध्यन्दिन आतुचि वामंधत्थ मनवे विश्ववेदसो जुह्वानाम प्रचेतसे । वयं तद्वः सम्राज वृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम्) ऋ० ८, ३० में विश्वेदेवा को 'मनोर्देवा यज्ञियासः' कहकर सम्बोधित किया गया है और उनसे विनय की गई है कि हमें हमारे पिता मनु के परावत मार्ग से दूर मत ले जाना (मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावत')।

इन उल्लेखों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:—

(१) मनु से जिस पथ का सम्बन्ध है वह स्वस्ति या कल्याण का पारलौकिक मार्ग है, जो स्वयं 'सम्राज' से भी माँगा जा सकता है।

(२) यह मार्ग उन्हें विश्वेदेवा की कृपा से प्राप्त हुआ।

(३) यह मार्ग सम्राज के 'धाम' को ले जाने वाला है जिससे भक्त ऋषि स्वयं सम्राज से भी उसके लिये प्रार्थना करता है।

(४) सम्राज विश्वेदेवा की तल्लीन-समष्टि-रूप मालूम पड़ता है। विश्वेदेवा, जैसा ऊपर कहा जा चुका है सभी देवों की सायुज्य-समष्टि रूप है, जिसका यथार्थ रूप 'एकत्व' या तल्लीन-समष्टि है। ब्राह्मणों में यही बात स्पष्ट रूप से कही भी गई है:—अथयदेनं एकं सन्तं बहुधा विहरन्ति तदस्य वैश्वदेवं रूपम्, ऐ० ब्रा० ३, ४) इस एकत्व या तल्लीन समष्टि रूप को 'सम्राज' शब्द से व्यक्त करने की प्रथा उपनिषद में भी मिलती है:—सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्ययं ब्रह्मलोकः सम्राडिति (बृ० ४, ३, ३२)।

इन सब बातों को मिलाने से मनु विश्वेदेवा की 'सायुज्य समष्टि' की उपासना द्वारा 'तल्लीन-समष्टि' या अद्वैत, एक, ब्रह्म या सम्राज रूप तक पहुंचने का मार्ग बतलाने वाले प्रतीत होते हैं। कामायनी में अन्तिम लक्ष्य 'अद्वैत' सत्ता ही है —

> मैं की मेरी चेतनता,
> सब को स्पर्श कियेसी।
> मानस के मधुर मिलन में,
> गहरे गहरे धसती सी।
>
> × × ×
>
> चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
> वह चेतन पुरुष पुरातन
> निज शक्ति तरंगायित था
> आनन्द-अम्बु निधि शोभन :

परन्तु यह अद्वैतवाद सीधे वेदों से न आकर शैवागम से आया है, जैसा कि 'त्रिपुर' 'नर्तित नटेश' तथा 'शक्ति-शरीरी' आदि के प्रयोग से स्पष्ट है। वेदान्त के अद्वैतवाद से साधारणत: इसका भिन्न होना निश्चित ही है।

अस्तु, यहाँ अभिप्रेत इतना ही है कि कामायनी के मनु की भाँति वैदिक मनु का कल्याण-मार्ग भी 'अद्वैत' सत्ता की ओर ले जाने वाला है। वेद में इसकी सिद्धि कराने वाले विश्वेदेवा की उपासना कामायनी के 'तपस्वी मनु' में दिखाई ही जा चुकी है।

श्रद्धा

मनु के कल्याणपथ की वास्तविक प्रदर्शिका श्रद्धा है, वही सद्गुरु की भाँति उसे वहाँ तक ले जाती है। श्रद्धा वास्तव में मनु की तीनों अवस्थाओं (ऋषि, प्रजापति, पथ प्रदर्शक) को मिलाने वाली—

है। हृदय की बात 'अनुकृति' सी 'उदार' वह सुन्दरी तपस्वी मनु से निःसंकोच पूछने लगती हैः—

कौन तुम ? संसृति जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप,
प्रभा की धारा से अभिषेक।

मनु को वह 'हृदय के कोमल कवि की कांत कल्पना की लघु लहरी' की भाँति मानसिक हलचल को शान्त करने वाली प्रतीत होती है (२८, २) 'ललित कला का ज्ञान' प्राप्त करने का उसे उत्साह है (२९, १) और 'हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य' वह खोजना चाहती है (२९, २)। जीवन से निराश, जगत की वेदनाओं से घबड़ाये हुए और कर्मक्षेत्र से विरक्त मनु को उस आशा-मूर्ति की कैसी यथार्थ फटकार हैः—

दुःख के डर से तुम अज्ञात,
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत से बनकर अनजान।

मनु फिर भी जीवन को 'निरुपाय, निराशापूर्ण, सफलता का कल्पित गेह' ही समझता है। अतः वह उसको उपदेश देती है, कि 'तप नहीं, केवल जीवन सत्य' है (६१, २) 'तुम असहाय अकेले कैसे यजन कर सकते थे ? तुच्छ विचार ! तपस्वी आकर्षण से हीन होकर, तुम आत्म विस्तार न कर सके।'

आशा, उत्साह तथा जीवन-प्रेम जो इस नारी के व्यक्तित्व में झलकते हैं, सम्भवतः उसने पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में पाये है, क्योंकि उसके माता-पिता काम और रति हैं—

हम दोनों की सन्तान वही,
कितनी सुन्दर भोली भाली।
रंगों ने जिनसे खेला हो,
ऐसे फूलों की वह डाली।

'काम' देवों का सहचर, उनके चित्त-विनोद का साधन, हँसने तथा हँसाने वाला (७६, ४) और रति 'अनादि वासना', आकर्षण बनकर हंसने वाली (८०, १)—ये दोनों आकांक्षा-तृप्ति के समन्वय रूप (८२, १) उसको उत्पन्न करने वाले थे—

मैं तृष्णा था विकसित करता,
वह तृप्ति दिखाती थी उनको,
आनन्द समन्वय होता था,
हम ले चलते पथ पर उनको।

वह आदर्श सन्तति है, अपने पिता की प्यारी सन्तान है (४६, १); माता पिता के प्रति उसे श्रद्धा है; उनको उस पर गर्व है और वे उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाते:—

जड़ चेतनता की गांठ वही
सुलझन है भूल सुधारों की
वह शीतलता है शान्तिमयी,
जीवन के उष्ण विचारों की।

यहाँ तक कि काम मनु से कहता है कि यदि 'उसके पाने की इच्छा हो तो योग्य बनो'। यह उसकी गर्वोक्ति ठीक भी है, क्योंकि श्रद्धा का आदर्श बहुत ऊँचा है और वह अपना निज का सन्देश रखती है:—

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला

इसका सन्देश सुनाने को,
संसृति में आई वह अमला।

सम्भवतः इसी आदर्श का प्रचार करने के लिये ही इसने मनु को आत्म-समर्पण किया; दया, माया, ममता, मधुरिमा तथा अगाध विश्वास से भरा हुआ अपना 'हृदय-रत्न-निधि' खोल दिया (६४, ५, ६५, १-२) और उसे शक्तिशाली तथा विजयी बनने के लिये जीवन की ओर अग्रसर किया (६५, ४); परन्तु इन्द्रिय-लोलुप, नारि को वासना-तृप्ति का साधन-मात्र समझने वाला तथा पत्नी को जड़ वस्तु की भाँति स्वार्थ-साधन के लिये प्रयुक्त करने वाला मनु उस समय उसके जड़-शरीर को ही पासका, उसके हृदय तथा 'हृदय सत्ता के सुन्दर सत्य' वाला सन्देश तब तक उसे नहीं मिला जब तक इड़ा के बुद्धिवादी सुखवाद की कटुतामय वेदना का अनुभव उसे न हुआ; भौतिकता से विरक्त होने पर ही वह श्रद्धा के सच्चे स्वरूप को पहचान सका। तब वह अपने बुद्धिवाद की हीनता तथा श्रद्धा की महत्ता को स्वयं स्वीकार करता है:—

नहीं पासका हूं मैं जैसे,
जो तुम देना चाह रही
क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी,
मधु धारा हो ढाल रही
सब बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका,
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे,
हृदय हमारा भर न सका।

और उसे रमणी रूप में न देखकर (२२६, २) सर्व-मङ्गला मातृ-रूप में देखता है (२२७, २)।

श्रद्धा, प्रेम, त्याग और तितिक्षा की प्रतिमा है। जिस पति ने उस गर्भिणी को अकेले असहायावस्था में छोड़ दिया था, जिसने उसके हृदय और आत्मा को ठुकरा दिया था, जिसने उसके आत्म-समर्पण और आत्म त्याग को लात मारकर एक दूसरी स्त्री के यहाँ जाकर डेरा जमाया था, उसी की आपत्ति में वह सहायक होती है और हाथ पकड़ कर सुख तथा शान्ति के मार्ग पर ले जाती है। उसका अणु-अणु भारतीय नारी का है। मार्ग में कितनी कठिनाइयाँ पड़ती हैं—पहाड़की चढ़ाई, दुर्गम जलद-लोक से ऊपर, धरातल से बहुत दूर ऊँचे पर जाना है। प्रबल वात-चक्र से मनु घबड़ा उठता है और साहस छोड़कर लौटने का प्रस्ताव करता है (२६०, ८–२), पर श्रद्धा धैर्य नहीं छोड़ती—

> दे अवलम्ब विकल साथी को
> कामायनी मधुर स्वर बोली
> हम बढ़ दूर निकल आये अब
> करने का अवसर न ठिठोली।

यही नहीं, उसके पति को उससे छीनने वाली इड़ा से भी वह ईर्ष्या नहीं करती, उससे भी वह प्रेम का व्यवहार करती है, यहाँ तक कि अपने प्रियपुत्र 'मानव' को भी उसे दे डालती है और अन्त में अपनी साधना, लगन तथा सद्वृत्ति द्वारा प्राप्त कल्याण-मार्ग पर भी उसे बुलाकर सच्ची शान्ति प्रदान करती है।

अतः 'कामायनी' की श्रद्धा (१) काम की पुत्री (२) मनु को आत्म-समर्पण करने वाली उससे परित्यक्त होने पर भी उनकी प्रेमी-पथ-प्रदर्शिका (३) इड़ा के साथ बहनापा निभाने वाली (४) तप के बदले जीवन पर जोर देने वाली (५) तथा हृदय-सत्ता के सुन्दर सत्य को खोजने वाली ऋषिका है।

वेदों में भी श्रद्धा का उल्लेख मिलता है। सायण द्वारा मान्य परम्परा, जिसको प्रसादजी ने आधार माना है, श्रद्धा को काम-गोत्र में

उत्पन्न होने वाली मानती है, परन्तु सायण की ही अपनी व्याख्या के तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार वह काम की माता कही गई है (श्रद्धा कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि तै० ब्रा० २, ८, ८, ८) और उसके पिता का नाम सूर्य बतलाया जाता है (श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता श० १२, ७, ३, ११)। मनु तथा श्रद्धा के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में केवल शतपथ ब्राह्मण का 'श्रद्धादेवो वै मनुः' (१, १) ही मिलता है, परन्तु भागवत पुराण में श्रद्धा मनु की पत्नी है, जिससे श्रद्धादेव मनु दश पुत्र उत्पन्न करते हैं (९, १, ११); यतः—

तलो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् स आत्मवान्।

शतपथ ब्राह्मण के 'श्रद्धादेव' मनु का उद्धरण सा यहाँ भी देखकर ऐसा मालूम होता है कि भागवत पुराण ने वैदिक परम्परागत श्रद्धा-कथा को ही लिया है। मनु-श्रद्धा के पति-पत्नी सम्बन्ध मान लेने पर भी श्रद्धा का मनु को आत्म-समर्पण, मनु द्वारा उसका परित्याग तथा श्रद्धा द्वारा मनु के पथ-प्रदर्शन के लिये प्रसादजी की कल्पना को ही श्रेय देना पड़ेगा।

अब रही श्रद्धा के ऋषित्व की बात। ऋग्वेद में १०, १५१ की श्रद्धा ऋषिका मानी गई है; इसमें आने वाले 'श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु' के आधार पर 'हृदय सत्ता के सुन्दर सत्य' को आदर्श मानने वाली कामायनी की काल्पनिक सृष्टि भी सम्भव है। 'तप नहीं केवल जीवन सत्य' के सिद्धान्त में अभिप्रेत जीवन का उदार तथा सक्रिय दृष्टिकोण श्रद्धा-सूक्त में आने वाले अग्न्याधान, हवन, विभाजन के देवता भग, दान तथा यजन आदि बातों से श्रद्धा का सम्बन्ध निसंदेह वैदिक प्रतीत होता है:—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धा भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥

परन्तु इडा और श्रद्धा के पारस्परिक बहनापे के सम्बन्ध में केवल शतपथ ब्राह्मण (११, २, ७, २०) दोनों की एक-रूपता की ओर संकेत करता हुआ सा दृष्टिगोचर होता है। इसी आधार पर सम्भवतः प्रसादजी ने श्रद्धा की इडा के प्रति उदारता तथा इडा की श्रद्धा के सामने नतमस्तक होने की कल्पना की है। आध्यात्मिक रूपक के लिये इडा श्रद्धा का यह सम्बन्ध निस्सन्देह आवश्यक था।

यम-यमी

मनु-श्रद्धा-कथा का जो स्वरूप प्रसादजी ने लिया है वह हमें उसके एक दूसरे वैदिक संस्करण से सहज ही प्राप्त हो जाता है। वह संस्करण हमें यम-यमी कथा में मिलता है। परन्तु 'कामायनी' की कथा से इसकी तुलना करने के पूर्व दोनों वैदिक संस्करणों की तुलना कर लेना आवश्यक है।

सादृश्य

मनु	यम
(१) विवस्वान् के पुत्र हैं। (ऋ० वे० ८, १०, १४; ३, ३१, ३; १८, ३, ६३; श० १, ४, १, ७ तु० क० ऋ० ८ ५२, १; नि० १२, १० बृ० दे० ७, ७)	(१) विवस्वान् के पुत्र हैं। (ऋ० १०, १४, १, १०, १७, २; ८, ४७६; नि० १२, १०, बृ० दे० ७, ७)
(२) मनु ऋषि हैं (ऋ० ८, २७-३१) उनके वंशज मानव हैं (ऋ० १०; १०, ६, १-६२)	(२) यम ऋषि हैं (ऋ० १०, १०) और वामायन भी (१०, १३-१८; १३६)

(३) प्रथम यज्ञकर्ता हैं (ऋ० १० ६३, ७ श० १, ५ १, ७ तु० ऋ० १, ४४, ११)	(३) प्रथम यज्ञकर्त्ता हैं (ऋ० ६, ६८, ५, ५; १०, १२, ४)
(४) प्रथम स्वस्ति मार्ग प्राप्त करने वाले हैं (दे० ऊपर) जिनको मनुष्य आदर्श समझते हैं (दे० ऊपर)	(४) प्रथम स्वर्ग के मार्ग (गातु) जानने वाले हैं (१०, १४, १-२)
(५) मनुष्यों के पिता हैं (ऋ० १, ८०, १६, २, ३३, १३)	(५) मनुष्यों के पिता हैं- (ऋ० १३५, १)
(६) प्रथम मनुष्य हैं (द० ऊपर)	(६) प्रथम मनुष्य हैं-- (ऋ० १०, ३)

(२) भेद

मनु	यम
(१) मनुष्यों के राजा हैं (श० १६, ४, ३, १ दे० ऊपर भी)	(१) मृत मनुष्यों (पितरों) के राजा हैं।
(२) सरण्युदेवी की प्रतिकृति सवर्णा देवी से जन्म है (नि० १२, १०; बृ० देव ७, ७)	(२) सरण्यू देवी का पुत्र
(३) × × ×	(३) प्रजा, देव तथा ऋषि के लिये स्वर्ग की मार्ग ढूढ़न में अपने प्रिय शरीर को बलि-दान कर देते हैं (ऋ० १०, १३, ४, २, १४, १, १५; ४)
(४) मनु का सम्बन्ध सूर्य की पुत्री श्रद्धा से है, जिसे वेद में तो नहीं परन्तु पुराण में अवश्य पत्नी कहा गया है (दे० ऊपर)	(४) यम का सम्बन्ध विवस्वान् (सूर्य दे० A F nhu Spiegel Die Ansche Fer- iode, 248 Hillebrandt

	Vedic Myth I, 488 ; Hopkins Religions of India 128 130 पु० क० Roth P W ZDMG 4 425) की पुत्री यमी से है, जो यम से पति बनने के लिये प्रस्ताव करती है परन्तु यम स्वीकार नहीं करता (ऋ० १०, १०)
(५) × × ×	(५) यम को मार्ग दिखलाने वाली यमी है— (ऋ० १० १४)
(६) × × ×	(६) यम के मरने पर यमी उसके पास बैठी शोक करती हुई देखी जाती है। (का० सं० ७, १०)

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि मनु और यम प्राय सभी प्रधान बातों में मिलते हैं। जो छः भेद ऊपर गिनाये गये हैं, उनमें से प्रथम तीन का तो यम से साक्षात् सम्बन्ध है और शेष तीन का सीधा सम्बन्ध यमी से है। अब इनको इन्हीं दो भागों में बाँटकर, इन पर विचार किया जावेगा।

यम-सम्बन्धी भेद

कुछ ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं, जिनमें यम का भी पहले मनु की भाँति मनुष्यों का राजा होना सिद्ध होता है। अवेस्ता में भी यम-यमी गाथा मिलती है। यहाँ भी वह विवस्वान् का ही पुत्र है (दे० Vendidad tr by Darmesteter D 5) अहुरमज्द

उसको बुलाता है और कहता है कि मेरे धर्म और नियम का प्रचार करो, अथवा रोग और मौत से पीड़ित मेरी प्रजा का भरण-पोषण करो। यम पहले काम के लिये तो अपने को असमर्थ पाता है, परन्तु दूसरे के लिये स्वीकृति देते हुए कहता है "हाँ मैं आपकी सृष्टि को बनाऊँगा.........मैं आपके लोकों को उन्नत बनाऊँगा। हाँ, मैं आपके लोकों का भरण-पोषण करूँगा। उन पर शासन करूँगा और उनकी देख-रेख रखूँगा। मेरे शासनकाल में न कोई रोग होगा और न मौत", (The venided, tr. by Darmester II, 3)। यह प्रतिज्ञा पूरी होती है और प्रजा खूब फलती-फूलती है। प्रजा को कष्ट देने वाले ऐन्ग्र मन्यु तथा उसके साथी दैत्य हैं। यही अनेक प्रकार की बाधायें उपस्थित करते हैं। जब जाड़े की ऋतु आई तो अहुरमज़्द ने यम से कहा, 'तीनों प्रकार के पशु—वन में रहने वाले, पर्वतों पर रहने वाले तथा घरों की पशु-शालाओं में रहने वाले— नष्ट हो जायेंगे (The venided, der Darmester II, 3) अतः अहुरमज़्द की आज्ञा से वह एक बड़ा बाड़ा तैयार करता है जिसमें सभी पशु सुरक्षित रहते हैं। इसी प्रकार से ऐन्ग्र मन्यु के दलद्वारा उपस्थित की हुई अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए, यम प्रजा-पालन करता है। तीन बार 'ख्वैरेन' नामक तेजपुञ्ज, जिस पर उनका जीवन निर्भर है निकल कर चलने लगता है, परन्तु प्रत्येक बार क्रमशः मिथ्र, अथ्रएतन तथा केरेसस्प नाम के देवता उसे लौटा लाते हैं। तेजपुंज के भागने में सम्भवतः ऐन्ग्र मन्यु के घातक आक्रमणों का आभास मिलता है, जिनके प्रभाव से ही अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है—मनुष्य जाति के लिये यम बलिदान हो जाता है—

अत: यम-कथा के इस अवेस्ता-संस्करण से पता चलता है कि यम मनु की भाँति मनुष्यों का राजा था, जिसने देवों (उ० क० अहुरमज़्द की आज्ञा) और मनुष्यों के लिये अपने शरीर को बलिदान कर दिया। इस प्रकार मनु और यम के भेद (१) और (२) का

कुछ निराकरण हो जाता है, परन्तु प्रश्न यह होता है कि जब यम मनुष्यों का राजा था, तो वह पितरों का राजा कैसे हुआ ?

इस प्रश्न के उत्तर में यहां कहा जा सकता है कि परलोक इहलोक का अनुकरण-मात्र सा प्रतीत होता है। अवेस्ता में पशुराज 'पवित्र बैल' मरकर स्वर्ग में पशुओं का राजा हो जाता है और दिवंगत पशु आत्माओं का स्वागत करता है। वेद में भी कारीगर ऋभुओं के विषय में कहा जाता है कि वे मर्त्य होते हुए भी अमर हो गये (मर्ता सन्त अमृता. बभुवु) और उन्होंने इन्द्र तथा देवों का साथ प्राप्त कर लिया। यम-मनु मनुष्यों के पितर थे मार्ग-दर्शक थे और सभी पितर देवता हैं (ऋ० १०, १६ ४) मार्ग दर्शक ऋषि हैं (ऋ० १०, १४, १५ तु० क० १, १ २ इत्यादि अत एक 'सफल राजा तथा पथ-प्रदर्शक यम को स्वर्ग में भी वहां प्रधानता दे देना पूर्णतया स्वाभाविक है।

मनु तथा यम के व्यक्तित्वों का पृथकरण भी अब सम्भवत समझा जा सकता है। अवेस्ता में अहुरमज्द ने यम के सामने जो वैकल्पिक प्रस्ताव रक्खे, वे धर्म प्रचार तथा प्रजा-पालन हैं। यदि भारतीय मनु तथा यम को मिलाया जाय तो ये दोनों ही बातें मनु-यम कथा में समाविष्ट हो जायेंगी — (१) मनुस्मृति आदि द्वारा धर्म-प्रचार तथा कर्तव्य-शिक्षा तथा (२) प्रजापति या विशपति मनु द्वारा प्रजापालन और उसके अनुकरण पर यम द्वारा परलोक-शासन य दोनों बातें यहाँ मिल जाती है। यम शब्द 'यम उपरमे' से निकला अत. उसका अर्थ ही है जीवन से उपराम हुआ व्यक्ति। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि 'यम' शब्द पहले विशेषण रूप में प्रयुक्त होकर दिवंगत मनु का द्योतक रहा होगा, पीछे विशेषण से बदलकर संज्ञा बन बैठा होगा और मनु से भिन्न किसी देवता का नाम होगया होगा।

इस प्रथकरण पर ही भेद (२) टिका हुआ है। जब मनु और यम पृथक होगये, तो उनकी मातायें भी भिन्न होनी चाहिये अतः यह गाथा गढ़ी गई कि जब यम की माता सरण्यू चली गई तो वह अपनी प्रतिकृति बनाकर अपने पति विवस्वान् के आश्रम में ही छोड़ती गई, जिससे उन्होंने मनु पैदा किये। ध्यान देने की बात है कि यहाँ माता भी यथार्थ में भिन्न नहीं है। इस गाथा का उल्लेख भी वैदिक ग्रन्थों में न मिलकर केवल बृहद्देवता तथा निरुक्त में ही मिलता है।

यमी सम्बन्धी भेद

मनु और यम की कथाओं में यमी-सम्बन्धी तीन भेदों में से पहला ही यथार्थ में भेद है, शेष दो तो ऐसी बातें हैं जो यम-कथा में हैं, परन्तु मनु-कथा में नहीं पाई जातीं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है भेद (५) की श्रद्धा और यमी दोनों ही सूर्य की पुत्री हैं। पुराणों में श्रद्धा को मनु (यम) की पत्नी कह दिया है, उसी के आधार पर प्रसादजी ने श्रद्धा को पत्नी के रूप में पथ-प्रदर्शिका माना है।

ईरानी पुराण-शास्त्र (Mythology) में भी यम-यमी को भाई-बहन मानते हुए भी पति-पत्नी रूप में रक्खा है। इसका कारण यह था कि दोनों की सन्तानोत्पत्ति कराके सृष्टि-कार्य कराना था। परन्तु वेद में दोनों को भाई-बहन मानना ही अधिक ठीक समझा गया, क्योंकि यमी को यम की पथ-प्रदर्शिका बनना था, जो रमणी-रूप-प्रधान पत्नी से नहीं हो सकता था। यही कठिनाई प्रसादजी को पड़ी थी; इसीलिये उन्होंने अन्त में मनु को श्रद्धा में 'रमणी' रूप के स्थान पर मातृ-रूप' के दर्शन कराये हैं—

> बोले 'रमणी' तुम नहीं ?" (२२६, १)
>
> × × ×
>
> तुम देवि ! आह कितनी उदार,
> यह मातृमूर्ति है निर्विकार (२२७-१)

परन्तु ईरानी परम्परा की अपेक्षा, भारतीय परम्परा तथा प्रसाद जीने बहन को पत्नी न बनाकर सदाचार की दृष्टि से अधिक स्तुत्य कार्य किया है।

यथार्थ में यमी यम की बहन ही है, और सम्भवत कभी उसकी पत्नी नहीं बनी, क्योंकि वैदिक पथ-प्रदर्शिका यमी के व्यक्तित्व में जो आदर्श दिखलाई पड़ता है वह उस वासना के साथ नहीं पनप सकता जो भाई बहन में पति पत्नी सम्बन्ध स्थापित करना चाहे। यमी यम को उन तपस्वी देवों, ऋषियों और कवियों का अनुसरण करने को कहती है जो अन्य गुणों के साथ साथ सदाचार (ऋत) तथा तप वाले हों और जो सदाचार (ऋत) की वृद्धि भी करते हों—

ये चित्पूर्वे ऋतसाप ऋतावान ऋतावृध
पितृन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात्
[ऋ० वे० १२४ और आगे]

यमी के इन वचनों में उसका जो रूप झलकता है क्या वह श्रद्धा के उस रूप से कम है, जिसके कारण मनु उसमें मातृ-मूर्ति के दर्शन करता है —

तुंग उन्नत थे वे शैलशिखर,
फिर भी ऊँचा श्रद्धा का सिर,
वह लोक अग्नि में तप गलकर,
थी ढली स्वर्ण प्रतिमा बन कर,
मनु ने देखा कितना विचित्र,
वह मातृ रूप थी विश्वमित्र।

इसी प्रकार यमी जहाँ यम को ले जाना चाहती है, वह भी उस कैलाश या अद्वैत सत्ता के ज्योतिर्मय ब्रह्म लोक से कम नहीं है, जो प्रसाद जी ने शैवागम के आधार पर चित्रित किया है अथवा

जिसको मनु द्वारा स्थापित-मार्ग का गन्तव्य 'सम्राज' का धाम कहा गया है। यमी यम को जहाँ वे जाना चाहती हैं वह स्थ. है, ज्योतिर्मय सूर्य है, जिस में 'कवि' लोग लीन हो जाते हैं और जिसे वे किरणों की भाँति छिपाये हुये हैं या रक्षित किये हुये हैं, जो सोम, घृत, मधु (संभवतः सुख के प्रतीक) हैं, और जहाँ अनेक प्रकार के सत्कर्म करने वाले पहुँचते हैं:—

ऋ० १०, १५, १, ऋषि यमी

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १ ॥
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ २ ॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ३ ॥
ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः
पितॄन्तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ४ ॥
सहस्रणीथा कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजां अपि गच्छतात् ॥ ५ ॥

यम की मृत्यु के समय वैदिक यमी का जो रूप दिखलाई पड़ता है, उसमें कुछ विचित्र बातें मालूम पड़ती हैं। काठकसंहिता इस रूप का वर्णन इस प्रकार करती है:—

अहर्वावासीन्न रात्रिः। सा यमी भ्रातरं मृतं नामृष्यत। तां यद् अपृच्छन् 'यम कर्हि ते भ्राता मृतेत्यद्यामृतेति' देवा अब्रुवन्न वा इयमिदं। रात्रीं करवामेति। ते रात्रीम् कुर्वंस्ते रात्र्यां पशूनपश्यन्। सा तस्मै वै पश्यामीति। सा न व्यौच्छ देवेभ्यस्तत पशुरुतान् देवा छन्दोभ्यः पर्यायन्। वा छन्दोभिरेव पर्ययंस्तस्माच्छन्दोभिर्नक्तमग्नि-रुपस्थेयः पशूनामनुख्यात्यै……सा वेदस्य पर अभ्यविति।…… देवा

या अहनो रक्षांसि निरघ्नस्तानि रात्रीं प्राविशस्तां देवा न ज्येतुमशक्नु वंस्त इन्द्रमब्रुवस्त्वं वै श्रोजिष्ठोऽसि त्वमिमां वीहीतिस्तुनमेत्यब्रवीन् नास्तुतो वीर्यं कर्तुं सहीमिति । तेऽस्तुवन्नेव तेऽग्निवेदिष्ट स स्वा स्तौस्त्विति तमग्निरस्तौत् ।

स स्तुतस्समस्त्वनां मृधः । (७-१०)

इस वर्णन से दो बातें ज्ञात होती हैं (१) यम की मृत्यु देव और असुरों के युद्ध की एक घटना है (२) यम की मृत्यु के पश्चात् यमी उसके निकट थी।

इन्हीं दोनों बातों के आधार पर सम्भवत. कामायनी के मुमुर्ष मनु के निकट श्रद्धा के आने तथा उसको सान्त्वना देने की कल्पना हुई है—जिस युद्ध में मनु घायल होते हैं, वह यदि असुरों से नहीं तो किलाताकुली नामक असुर पुरोहितों के नेतृत्व में लड़ने वाली प्रजा से तो अवश्य ही है (मरण पर्व था, नेता आकुलि और किलात थे २०१, १)। मनु मरते नहीं, पर मरणासन्न अवश्य हो जाते हैं (गिरी मनु पर मुमुर्ष वे गिरे वहीं पर, २१०, ३), श्रद्धा भी यमी की भाँति मनु के पास पहुचकर उसको सहलाती हुई दिखलाई पड़ती है—

इड़ा चकित श्रद्धा आ बैठी
        वह थी मनु को सहलाती।
अनुलेपन सा मधुर स्पर्श था,
        व्यथा भला क्यों रह जाती ?
उस मूर्छित नीरवता में कुछ,
        हलके से स्पन्दन आये ।
आँखें खुली चार कोनों में
        चार बिन्दु आकर छाये ।

दोनों वर्णनों में अन्तर है तो केवल इतना कि श्रद्धा के मनु मृत्यु से बच जाते हैं, यमी के यम का पुनर्जीवित होने का उल्लेख

मिलता, जब तक कि स्वर्ग में पितरों पर राज्य करते हुए यम के जीवन को पुनर्जीवन न मानें।

कुमार

यम-यमी कथा में मनु के कुमार का भी आधार ढूंढा जा सकता है। मनु और श्रद्धा से जो पुत्र उत्पन्न होता है, श्रद्धा उसे सहर्ष इड़ा को दे डालती है:—

> मैं लोक अग्नि में तप नितान्त,
> आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त।
> तू क्षमा न कर कुछ चाह रही,
> जलती छाती की दाह रही।
> तो ले ले निधि जो पास रही
> मुझको बस अपनी राह रही।
> रह सौम्य! यहीं; हो सुखद प्रान्त
> विनिमय कर दे कर कर्म कान्त।

इसी घटना की झलक सम्भवतः निम्नलिखित वैदिक उद्धरण में भी मिलती है जिसमें कुमार 'अनुदेयी' हो जाता है:—

> कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत्।
> कः स्वित्तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथाभवत्
> यथाभवदनुदेयी ततो अग्रमजायत।
> पुरस्ताद् बुध्न आततः पश्चान्निरयणं कृतम्।
>
> (१०, १३५, ५-६)

(४) जल-प्लावन

जल-प्लावन एक महत्वपूर्ण घटना है, जिससे वैदिक मनु-यम कथा पर बहुत प्रकाश पड़ता है। यम और यमी के प्रथम मिलने के समय जिस अर्णव का उल्लेख मिलता है, वह सम्भवतः 'जलप्लावन'

का ही संकेत करता है (श्री चित्समाय सव्यामवृण्या तिर पुरूचिद्र्णव जगौ ऋ० १०, १०) क्योंकि 'अर्णव' शब्द का प्रयोग साधारण 'सागर' या जलराशि की अपेक्षा क्षुब्ध जलनिधि के के लिये ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। मनु से तो जलप्लावन की घटना का सम्बन्ध स्पष्ट और निश्चित ही है। बड़ी भारी बाढ़ आती है, चारों ओर जल ही जल हो जाता है, सब डूब जाते हैं, मनु अपनी नौका पर बैठे मृत्यु की घड़ियाँ गिनते ही थे कि एक मत्स्य के सहारे से वे पार हो जाते हैं —

तस्य (मनो) अवनेनिजानस्य मत्स्य पाणीऽआपेदे । स हास्मै वाचमुवाद । बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसी त्यौघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मीति श० १, ८, १, १–२)

प्रसादजी ने कल्पना का सहारा लेकर इसी घटना का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। गगन-चुम्बी लहरों का उठना, असंख्य चपलाओं का चमकना, महा घन-गर्जन, वर्षा की झड़ी, भयानक आँधी और इन सब के परिणाम स्वरूप घोर विनाश की विभीषिका (पृ० २४–२५) यही उस जलप्लावन का वर्णन है। न मालूम कितने दिनों तक यह प्रकृति की संहार-क्रिया चलती रही, अन्त में मत्स्य द्वारा मनु का उद्धार हुआ —

प्रहर दिवस कितने बीते, अब,
इसको कौन बता सकता।
इनके सूचक उपकरणों का
चिन्ह न कोई पा सकता।

× × ×

काला शासन चक्र मृत्यु का,
कब तक चला न स्मरण रहा।

मह मत्स्य का एक थपेड़ा,
दीन पोत का मरण रहा।

× × ×

किन्तु उसी ने ला टकराया
इस उत्तर गिरि के शिर से।
देव सृष्टि का ध्वंस अचानक,
श्वास लगा लेने फिर से।

कामायनी में उल्लिखित इस उत्तरगिरि का उल्लेख भी शतपथ ब्राह्मण में आया है। कहा जाता है कि मनु ने अपनी नाव को इसी गिरि के पास एक वृक्ष से बाँधा और—यहीं वे बाढ़ से पार हुए थे, इसीलिये उत्तरगिरि को (मनोरवसर्पणम्) कहते हैं:—

'अपीपरं वै त्वा, वृक्षे नाव प्रतिबध्नीष्व, तं तु त्वा मागिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सीद् यावद् यावदुदकं समवायात्तावत् तावदन्ववसर्पासि इति सह तावत् तावदेवान्ववससर्प। तदप्येतदुत्तरस्यगिरेर्मनोरव वसर्पणमिति (वही)

मनु की इस नाव का वर्णन प्रसादजी ने भी किया है:—
एक नाव थी, और न उसमें,
डाँड़े लगते या पतवार।
तरल तरंगों से उठ गिरकर,
बहती पगली बारम्बार।

यही नाव जल-प्लावन के समाप्त होने पर महावट से बधी हुई दिखाई पड़ती है:—
बँधी महा-वट से नौका थी,
सूखे में अब पड़ी रही।
उतर चला था वह जल-प्लावन,
और निकलने लगी मही।

समस्या-सूची

तै०, उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
द० रू०	दशरूपकम्
दंडी	दंडी का काव्यादर्श
दै०, दैव०	दैवताध्याय
ना० शा०	भरत नाट्यशास्त्र
नि०	यास्ककृत निरुक्त
प० त्रिं०	अभिनवगुप्तकृत परात्रिंशिकाव्याख्या
पा० धा० पा०	पाणिनीयधातु पाठ
पा० यो० सू०	पातञ्जल योगसूत्र
बृ० दे०	बृहद्देवता
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद
भ० गी०	श्रीमद्भगवद्गीता
भा० पु०	भागवत पुराण
म० भा०	महाभारत
म० भा० शा०	महाभारत का शांतिपर्व
मनु	मनुस्मृति
मा०	मालविकाग्निमित्र
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
य० वे०	यजुर्वेद
यो० सू० भा०	पातंजल योग सूत्र का व्यास भाष्य
र० त०	रस तरङ्गिणी
र०	रस गंगाधर
रा०	रामायण
शा० श्रौ० सू०	शांखायन श्रौतसूत्र
वं० ब्रा०	वंश ब्राह्मण
वि०	विक्रमोर्वशी
विष्णु०	विष्णु धर्मोत्तर

वि० पु०	विष्णु पुराण
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शु० नी०	शुक्रनीति
ष० ब्रा०	षड्विंश ब्राह्मण
सा० वे०	सामवेद
सा० वि०	सामविधान
सा० द०	साहित्य दर्पण
ऋ० सा०	ऋग्वेद सा० भा०
सां० ब्रा०	सांख्यायन ब्राह्मण
सां० श्रौ० सू०	सांख्यायन श्रौत सूत्र

Bloomfield	Hymns of Atharva Veda by Bloomfield
B. R. V.	Bergaigne, Religion Vedique.
Venided	Venided, Darmesteter's Translation
Geldner	Geldner, Glossor stuttgart ..
Grassmann	Grassmann, Rigveda Ubersetzt
Griffith	Griffith, Rigveda (Translation)
Hillebrandt	Hillebrandt, Vedisque Mythologie
Hopkins	Hopkins, Religions of India
Ind. St.	Pichel and Roth, Indische Studien
M. V. M.	Macdonell, Vedic Mythology
Oldenberg	Oldenberg, Textkritische und exegische Noten

तु० क०	तुलना करो
दे०	देखिये
अनु०	और इसके आगे
उ०	उपर्युक्त